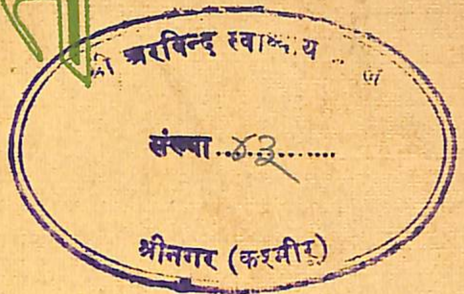
वर्ष ११ अंक १

श्रीमाता जी के प्रवचन

फरवरी १९५३

अदिति



सह
भारत माता

अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी

जीवन में सब प्रकार के भय, संकट और विनाश के प्रति सशस्त्र होकर चलने के लिये दो ही चीजें जरूरी हैं और ये दोनों ऐसी हैं जो सदा एक साथ रहती हैं—एक भगवती माता की कृपा और दूसरी, तुम्हारी ओर से ऐसी अन्तःस्थिति जो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पण से गठित हो।

—श्रीअरविन्द



पत्रिका का शुल्क

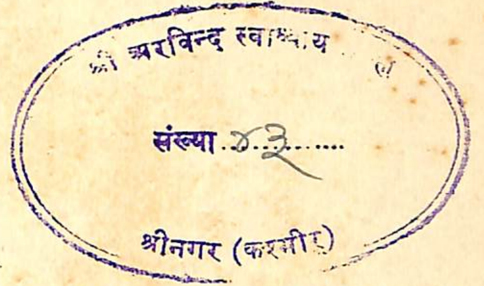
वार्षिक ६) एक अङ्क १॥)

विदेश का शुल्क

वार्षिक १२॥ शिलिंग एक अङ्क ३॥ शिलिंग

इस विशेषांक का विशेष मूल्य १॥)

अदिति



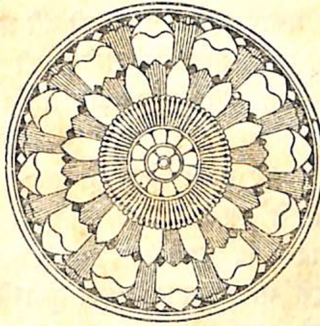
इकतालीसवीं कला

श्री माताजी के जन्म-दिवस, २१ फरवरी १९५३ के उपलक्ष्य में

विशेषांक

श्री माताजी के प्रवचन

(जिसमें समाविष्ट हैं उनकी दो पूर्ण पुस्तकें Words of Long Ago और Words of the Mother, 3rd series तथा उनके अद्यावधि प्राप्त सभी स्फुट वचन)



अदिति कार्यालय, श्रीअरविन्द आश्रम
पांडिचेरी

'भारत माता' का स्वरूप

भारत इस देश की जमीन, नदियां और पहाड़ ही नहीं है और न ही वह इस देश के वासियों का सामूहिक नाम है। भारत एक जीवित सत्ता है। ठीक उसी प्रकार जीवित जैसे शिव आदि देवता। सभी देशों की अपनी अपनी आत्मा होती है और यदि उनमें (सीमा-सम्बन्धी) राजनीतिक परिवर्तन कर दिये जायं तो वे अवास्तविक होंगे। उदाहरण के लिये, यद्यपि आस्ट्रिया जर्मनी का भाग बन गया है फिर भी वह जर्मनी से बिलकुल अलग है और उसकी आत्मा विक्षुब्ध है। भारत शिव की तरह अधिमानस-स्तर की देवी है और यदि चाहे तो मानव देह में भी प्रकट हो सकती है।

१९४२

*

जिस प्रकार व्यक्ति की अपनी अंतरात्मा होती है, जो उसकी वास्तविक सत्ता होती है और उसकी भवितव्यता को कम अथवा अधिक प्रकट रूप में परिचालित करती है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र की भी अंतरात्मा होती है। वही उसकी सच्ची सत्ता होती है और उसकी भवितव्यता को पर्दे के पीछे से निर्मित करती है। यही देश की आत्मा होती है, राष्ट्रीय प्रतिभा होती है, जाति की भावना होती है, राष्ट्रीय अभीप्सा का केंद्र होती है, किसी देश के जीवन में जो कुछ सुन्दर, उत्कृष्ट, महान् और उदार होता है उसका मूल स्रोत होती है। सच्चे देशभक्त प्रत्यक्ष सत्ता के रूप में इसकी उपस्थिति अनुभव करते हैं। इसी को भारतवर्ष में एक दिव्यप्राय रूप दिया गया है। जो लोग अपने देश से सच्चा प्रेम करते हैं वे इसे भारत माता कहकर पुकारते हैं और अपने देश के हित के लिये इसी के आगे अपनी दैनिक प्रार्थना करते हैं। यह भारत माता ही देश के सच्चे आदर्श, विश्व में उसके सच्चे उद्देश्य का प्रतीक है, उसका मूर्त्तिमान् रूप है।

१९५२

—श्री माताजी



अदिति, फरवरी १९५३

नए प्रवचन

बहुत पहले के प्रवचन

भाग १

भाग २

स्फुट वचन

विशेषांक के विषय में

"अदिति सह भारत माता" संयुक्त पत्रिका का यह पहला अंक है और इसे अपने संयुक्त ग्राहक-मंडल को भेंट करते हुए हमें हार्दिक आनंद होता है। हम आशा करते हैं कि यह 'अदिति' और 'भारत माता' की अपनी अपनी प्रेरणाओं को सुन्दर संयुक्त रूप प्रदान करेगा और इनके संयुक्त जीवन का उपयुक्त प्रारंभ बन सकेगा।

'अदिति' और 'भारत माता' के पहले विशेषांकों से यह भिन्न विषय को प्रस्तुत करता है। 'अदिति' का सन् '५१ का विशेषांक श्रीअरविंद के व्यक्तित्व का विविधपक्षीय परिचय था। सन् '५२ का विशेषांक श्रीअरविंद के पत्रों का एक संकलन था। 'भारत माता' के सन् '५१ और '५२ के विशेषांक विविध विषयों के लेखों के सचित्र बृहत् संग्रह थे। यह विशेषांक श्री माताजी के प्रवचन प्रस्तुत करता है। मातृ-साहित्य में 'मातृवाणी', जिसमें योग और जीवन की विविध समस्याओं पर प्रश्नोत्तर-रूप में विवेचन है, हिंदी में प्राप्य है, उनकी बच्चों के लिये लिखी कहानियों की पुस्तक 'सुन्दर कहानियां' तथा 'सर्वोत्तम आविष्कार' और कुछ स्फुट वचन भी प्राप्य हैं। हाल में लिखी हुई 'शिक्षा' पुस्तक भी प्राप्य हो गई है। परंतु उनकी बृहत् Prières et méditations, Paroles d'autrefois, Words of the Mother (3rd series) अभी अंशतः ही पत्र-पत्रिकाओं में निकली हैं। यह विशेषांक उनकी पिछली दोनों पुस्तकें प्रस्तुत करता है। Paroles d'autrefois भारत में आने से पहले सन् १९१२ के लगभग पैरिस में दिये गये प्रवचनों का संग्रह है। और Words of the Mother (3rd series) सन् ३०-३१ में आश्रम में दिये गये प्रवचनों का। ये सब प्रवचन यहां संगृहीत हैं और इन के साथ हैं अद्यावधि-संपूर्ण स्फुट वचन।

मातृ-साहित्य की यह सब सामग्री एक जगह जुटा देना ही इस विशेषांक का लक्ष्य है और हमें विश्वास है कि पाठकों को इससे आनंद होगा। श्रीअरविन्द के आध्यात्मिक कार्य में माताजी का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः माताजी पैरिस में रहते हुए स्वतंत्र रूप से मानव विकास और रूपांतर-संबंधी उसी महान् कार्य में संलग्न थीं जिसके लिये श्रीअरविन्द यहां प्रयत्नशील थे। यह माताजी के पैरिस-काल के प्रवचनों से स्पष्ट हो जाता है। पीछे श्रीअरविन्द और माताजी पांडिचेरी में संयुक्त बल से उसी आदर्श के लिये कार्य करते रहे। अतिमानसिक आदर्श, पूर्ण रूपांतर तथा सर्वांगीण योग की प्रक्रिया दोनों के संयुक्त अनुभवों की उपलब्धियां हैं और श्रीअरविन्द के महाप्रयाण के बाद एकमात्र माताजी ही इन आदर्शों की अधिकारपूर्ण प्रतिनिधि, गुरु तथा आचार्या हैं। इनके प्रेमपूर्ण उपदेशों का यह संग्रह अवश्य ही उनके अपूर्व व्यक्तित्व का हमें कुछ संपर्क प्रदान करेगा।

पैरिस-काल के प्रवचन विभिन्न शैली की चीजें हैं। इनमें कहानी तथा वृत्तांत हैं, गंभीर दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक निबंध हैं और अत्यंत सारगर्भित तथा सरल वक्तव्य हैं। कहानी और वृत्तांत में कला का स्पर्श अत्यंत आनंददायक है, निबंध विचार और चिंतन को प्रेरित करते हैं और वक्तव्य जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सुन्दर स्पष्ट पथ-

प्रदर्शन देते हैं और सबके सब जीवन की अभीप्सा और विकासात्मक भाव को जाग्रत् करते हैं। ये 'बहुत पहले के प्रवचन' बड़े ही मार्मिक तथा ओजस्वी हैं, पैरिस-काल के माताजी के महान् स्वरूप को हमारे सामने साक्षात् उपस्थित कर देते हैं। इनमें पहला "'थोड़ी-देर-बाद' का रास्ता" शुद्ध निबंध था, अन्य सबके सब लिखित प्रवचन थे।

नए प्रवचन आश्रम-जीवन की उपज हैं। सन् '३० में सहज भाव में ही, जैसे कि प्रायः आश्रम में होता है, उस समय के साधकों को माताजी से मिलने तथा कुछ वार्तालाप का प्रसंग बन गया था। संभवतः वह उस समय की किसी विशेष प्रेरणा को मूर्त्तिमान् करने का प्रयत्न था, क्योंकि उस गोष्ठी में जहां संयोगवश वे अनेक विषयों पर कुछ कहती थीं वहां वे कुछ ऐसे क्रियात्मक आयोजन भी प्रस्तुत किया करती थीं जिनमें साधकों को अंतः-स्फुरणा (intuition) को प्रयोग में लाकर उत्तर ढूंढ़ना होता था। समय समय के वक्तव्यों को एक साधक पीछे लेखबद्ध कर लिया करते थे और वही सन् १९५१ में माताजी की अनु-मति से प्रकाशित हो गये।

माताजी के स्फुट वचन अपने आपमें एक साहित्य हैं जिसका लंबा इतिहास है। ये दीर्घकाल में प्रायः एक एक करके प्रकट हुए हैं। हर एक की अपनी अपनी कहानी है। साधकों की विविध जीवन-स्थितियों में, उनकी अभीप्साओं, जिज्ञासाओं तथा संकटों में ये वचन माताजी की प्रेरणा रहे हैं, सत्य-दर्शन रहे हैं। ये जीवन की गति में से पैदा हुए हैं और गंभीर रूप में जीवन-शक्ति से भरपूर हैं। ये मनन, चिंतन और ध्यान के अपूर्व विषय हैं, जीवन के मौलिक सत्यों का स्वरूप हैं और इन्हें चरितार्थ करने का अपूर्व साधन हैं। ये इस समय अनेक पुस्तकों तथा पत्रिकाओं में बिखरे पड़े हैं। यहां उन्हें अद्यावधि पूर्ण रूप में एकत्रित कर दिया गया है। संग्रह १ में Words of the Mother (1st series) के संपूर्ण स्फुट वचन हैं। इसमें Words of the Mother (2nd series), जो कि स्फुट वचनों का ही संग्रह है, आ गया है। सन् '४९ के संस्करण में यह पहली बड़ी पुस्तक में समाविष्ट हो गई थी। Words of the Mother (3rd series), पूरी की पूरी यहां "नए प्रवचन" के अधीन आ गई है। Words of the Mother (4th series) स्फुट वचनों का ही एक और संग्रह है जो यहां संग्रह २ में आ गई है। संग्रह ३ में पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पिछले २-३ वर्षों के स्फुट वचन हैं। इस प्रकार स्फुट वचनों का अद्यावधि पूर्ण संग्रह यहां प्रस्तुत हो जाता है।

हमें विश्वास है यह माताजीसंबंधी विशेषांक उनके विषय की जिज्ञासा के लिये बहुत कुछ भोजन प्रस्तुत करेगा और हम उनके स्वरूप से अपने जीवन के लिये पथ-प्रदर्शन तथा साहाय्य प्राप्त कर सकेंगे।

क्योंकि इस अंक की सामग्री अभी पुस्तक-रूप में प्राप्य नहीं है अतः हमने इसे अति-रिक्त संख्या में छपा लिया है। 'अदिति' और 'भारत माता' के ग्राहकों को तो सामान्य रूप से यह प्राप्त हो जायगा परंतु जो इसे अलग प्राप्त करना चाहेंगे उन्हें भी मिल सकेगा।

—सम्पादक



श्री माताजी

नए प्रवचन

सामान्य जीवन और सच्ची आत्मा

सामान्य जीवन अनेक प्रकार के लोभ-लालचों तथा कामनाओं का चक्र है। जब तक मनुष्य उनमें व्यस्त रहता है उसकी स्थायी उन्नति नहीं हो सकती। इस चक्र में से निकलने का उपाय अवश्य ढूंढ़ना चाहिये। एक उदाहरण लो। खाना सामान्य जीवन की एक नित्य-प्रति की व्यस्तता है। लोग प्रायः सोचा करते हैं कि वे क्या खायेंगे, कब खायेंगे, अथवा वे पर्याप्त खा रहे हैं या नहीं। खाने के लालच पर विजय प्राप्त करने के लिये तुम्हें अपने अंदर ऐसी समता उत्पन्न करनी पड़ेगी जिससे भोजन की ओर से तुम पूर्णतया उदासीन हो जाओ। मिल गया तो खा लिया, नहीं मिला तो उसके बारे में लेशमात्र भी दुःख नहीं माना; जो भी हो, खाने के बारे में सोचते न रहो। नकारात्मक भाव में भी सोचना ठीक नहीं। संन्यासियों का खान-पान के संयम के लिये उपाय और ढंग सोचते रहना भी लगभग वैसा ही है जैसा कि उसके बारे में लोलुपतापूर्वक स्वप्न देखना। मुख्य बात तो यह है कि उसकी ओर उदासीनता की वृत्ति बना लो। अपनी चेतना में से खाने का विचार निकाल दो, उसे जरा भी महत्त्व न दो।

एक बार यदि तुम्हारा अपने चैत्य पुरुष अर्थात् अंदर की गहराई में स्थित सच्ची आत्मा के साथ संबंध जुड़ जाय तो यह कार्य बहुत आसान हो जायगा। तुम तत्क्षण अनुभव करने लगोगे कि ये वस्तुएं कितनी तुच्छ हैं और जो एक चीज महत्त्वपूर्ण है वह भगवान् है। चैत्य पुरुष अर्थात् अंतरात्मा में रहने का मतलब है सब प्रकार के लोभ-लालचों से ऊपर

उठ जाना। तब तुम्हारे अंदर न कोई तृष्णा रहेगी, न चिंता और न ही व्याकुल चक्कर देनेवाली इच्छा। साथ ही तुम यह अनुभव करने लगोगे कि जो कुछ होता है तुम्हारे अधिकतम भले के लिये होता है। इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं कि तुम्हें सदा यह सोचते रहना चाहिये कि सब कुछ तुम्हारी भलाई के लिये हो रहा है। जब तक तुम अपनी साधारण चेतना में हो तब तक सब कुछ तुम्हारी भलाई के लिये नहीं होता। यदि तुम चेतना की ठीक अवस्था में नहीं हो तो तुम किसी समय भी गलत दिशा में बहक सकते हो। पर एक बार यदि तुम अपनी अंतरात्मा में स्थित हो जाओ और भगवान् को आत्म-समर्पण कर दो तो फिर जो कुछ होगा वह तुम्हारी अधिकतम भलाई के लिये होगा, क्योंकि तब प्रत्येक घटना, उसका बाह्य रूप चाहे कुछ भी हो, तुम्हारे लिये भगवान् का निश्चित प्रत्युत्तर होगी।

वस्तुतः सच्चे आत्म-समर्पण का कार्य अपना प्रतिफल आप होता है—वह अपने साथ ऐसा विश्वास, ऐसी प्रसन्नता और निर्भयता लाता है जैसी संसार की कोई और वस्तु नहीं दे सकती। परंतु जब तक यह आत्म-समर्पण पक्की तरह अंतरात्मा की ही वस्तु नहीं हो जाता तब तक बाहर की विघ्न-बाधाएं तो चलती ही रहेंगी—प्रकाशपूर्ण अवस्थाओं के बीच में अंधकारमय अवस्थाएं आती ही रहेंगी। यह केवल अंतरात्मा है जो अटूट भाव में उन्नति के पथ पर बढ़ती रहती है। इसकी गति सदैव ऊर्ध्वगामी होती है जब कि और सब गतियां बीच बीच में टूटती और बंद होती रहती हैं। तुम सच्चे अर्थों में व्यक्ति नहीं हो सकते जब तक तुम अंतरात्मा को अपना आप न अनुभव करने लगो, क्योंकि सच्ची सत्ता यही है। बिना अंतरात्मा को जाने तुम एक सत्ता नहीं हो बल्कि एक सार्वजनिक स्थान बने हुए हो। तुम्हारे अंदर कितनी ही विरोधी शक्तियां कार्य कर रही हैं। इसलिये यदि तुम अपनी वास्तविक उन्नति चाहते हो तो तुम अपनी उस सत्ता को जानो जो सदा भगवान् के संपर्क में रहती है; रूपांतर का कार्य केवल तभी संभव होगा। तुम्हारी प्रकृति के और समस्त अंग निर्बोध हैं। उदाहरणार्थ, मन प्रायः यह सोचने की गलती करता है कि प्रत्येक चमत्कारक विचार प्रकाशमय होता है। जितना बलपूर्वक वह भगवान् के पक्ष में तर्क निकाल सकता है उतना ही उसके विपक्ष में भी। सत्य का निर्भ्रांत ज्ञान उसके पास है ही नहीं। और प्राण? वह तो साधारणतया किसी भी शक्ति-प्रदर्शन से प्रभावित हो जाता है और उसी को देवतुल्य समझने को तैयार हो जाता है। उपयुक्त विवेक-शक्ति केवल अंतरात्मा में होती है; उसे सहज रूप से ही भगवान् की उपस्थिति का ज्ञान होता है; वह दिव्य और अदिव्य में ठीक ठीक भेद कर लेने की योग्यता रखती है। यदि तुम एक क्षण के लिये भी उसके संपर्क में आ जाओ तो तुम्हें भगवान् के बारे में इतना दृढ़ विश्वास हो जायगा कि उसे कोई चीज भी हिला नहीं सकेगी।

तुम पूछते हो कि अपनी उस सच्ची आत्मा को फिर हम जानें कैसे? उसके लिये अपने अंदर मांग उत्पन्न करो, उसके लिये अभीप्सा करो, उसको इतना चाहो जितना तुम और किसी को नहीं चाहते। यहां तुममेंसे अधिकतर लोग उससे प्रभावित हो चुके हैं पर यह प्रभावमात्र से अधिक होना चाहिये; तुम्हें उसके साथ एकरस अनुभव कर सकना चाहिये। पूर्णता की प्रेरणा इसी से मिलती है, पर तुम उसके स्रोत से अनभिज्ञ हो, तुम सचेतन रूप में उसके साथ मिलकर काम नहीं कर रहे। तुम उसके प्रकाश से अभिन्न नहीं हो।

यह मत सोचो कि अंतरात्मा से मेरा मतलब तुम्हारी भावमयी सत्ता (emotional being) से है, भाव उच्चतर प्राण की चीज है, शुद्ध अंतरात्मा की नहीं। अंतरात्मा तो वह स्थिर लौ है जो तुम्हारे अंदर सदा जलती रहती है और भगवान् की ओर ऊंची उठती है तथा एक शक्ति-विशेष से संपन्न होती है जो सब बाधाओं को नष्ट कर सकती है। जब तुम इसके साथ अपने आपको एक कर लेते हो, तुम्हें भागवत सत्य की प्रतीति हो जाती है। तब तुम्हें यह स्वयं अनुभव होने लगता है कि समस्त संसार अज्ञानवश सिर नीचे और पैर ऊपर हवा में करके चल रहा है।

जिसे तुम अपना व्यक्तित्व कहते हो उसे तुम्हें अपनी अंतरात्मा की सत्ता से जोड़ना सीखना चाहिये। तुम्हारा वर्तमान व्यक्तित्व एक बड़ी मिली-जुली चीज है; वह कुछ परिवर्तनों का तांता है पर फिर भी उसमें एक प्रकार की अविच्छिन्नता है, परिवर्तनों के बीच में भी एक प्रकार की एकात्मता का स्पंदन है। इसकी नदी से तुलना की जा सकती है; नदी हर क्षण बदल रही है पर उसका स्वरूप निश्चित तथा स्थायी भी है। तुम्हारी यह सामान्य सत्ता तुम्हारी वास्तविक सत्ता की छायामात्र है, यह तुम केवल तब समझोगे जब तुम्हारा सामान्य व्यक्तित्व जो कभी मन, कभी प्राण तो कभी शरीर में अवस्थित हो जाता है अंतरात्मा के संपर्क में आ जायगा और उसी को अपनी यथार्थ सत्ता समझने लगेगा। तब तुम ऐक्यपूर्ण हो जाओगे, तब कोई वस्तु तुम्हें डांवाडोल, अनवस्थ नहीं कर सकेगी, तुम स्थिर और स्थायी उन्नति करने लगोगे और खाने के लालच जैसी तुच्छ बातों से बिलकुल ऊपर उठ जाओगे।

आत्मसमर्पण, आत्मोत्सर्ग और आत्मनिवेदन

आत्मसमर्पण का अर्थ है अपने जीवन का उत्तरदायित्व श्रीभगवान् के हाथों में सौंप देने का निश्चय। इस निश्चय के बिना कुछ भी होना संभव नहीं; अगर तुम समर्पण नहीं करते तो योग का एकदम कोई प्रश्न ही नहीं उठता। समर्पण करने के बाद भी दूसरी प्रत्येक चीज स्वाभाविक ढंग से आती है, क्योंकि योग की सारी प्रक्रिया समर्पण से ही आरंभ होती है। तुम या तो ज्ञान के द्वारा समर्पण कर सकते हो अथवा भक्ति के द्वारा कर सकते हो। हो सकता है कि तुम्हें यह प्रबल अंतर्ज्ञान प्राप्त हो कि एकमात्र भगवान् ही सत्य हैं और साथ ही यह ज्वलंत विश्वास हो जाय कि भगवान् के बिना तुम्हारा काम चल ही नहीं सकता। अथवा यह भी हो सकता है कि तुम्हें स्वभावतः यह बोध प्राप्त हो जाय कि ऐसी जीवनधारा ग्रहण करना ही सुखी होने का एकमात्र उपाय है, तुम्हारे अंदर पूर्ण रूप से भगवान् का ही हो जाने की प्रबल चैत्य-कामना हो जाय, तुम यह कहने लगो : "मैं अपना नहीं हूं", और तुम अपनी सत्ता की जिम्मेदारी दिव्य सत्य के ऊपर छोड़ दो। इसके बाद आरंभ होता है आत्मोत्सर्ग : "यह मैं हूं, विभिन्न गुणों से, अच्छे और बुरे, काले और उज्ज्वल गुणों से युक्त एक प्राणी। जैसा भी मैं हूं मैं अपने को तेरे चरणों में चढ़ा रहा हूं, मेरे समस्त उत्थानों और पतनों के साथ, अच्छाइयों और बुराइयों के साथ, परस्परविरोधी प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों के साथ तू मुझे ग्रहण कर और मेरे साथ जो कुछ भी तेरी इच्छा हो वह कर।"

अपने इस आत्मोत्सर्ग की क्रिया के साथ साथ तुम फिर अपनी सारी सत्ता को अपने अंदर की उस चीज के इर्द-गिर्द एकीभूत करना, युक्त करना आरंभ करते हो जिसने यह पहला निश्चय—केंद्रीय चैत्य-संकल्प—किया है। तुम्हें अपनी प्रकृति की सभी परस्पर झगड़नेवाली चीजों में सामंजस्य बैठाना होगा, उन्हें एक एक करके लेना होगा और केंद्रीय सत्ता के साथ युक्त कर देना होगा। तुम सहज-स्वाभाविक ढंग से अपने आपको भगवान् के चरणों पर अर्पित कर सकते हो, पर इस एकीकरण के बिना, समस्त सत्ता को एक साथ युक्त किये बिना सार्थक रूप में अपने आपको देना संभव नहीं। जैसे जैसे तुम सारी सत्ता को एकीभूत करते जाओगे वैसे वैसे तुम आत्मोत्सर्ग को सिद्ध करने में समर्थ होते जाओगे। और एक बार जब आत्मोत्सर्ग पूर्ण हो जाता है तभी आरंभ हो जाता है आत्म-निवेदन। यही सिद्धि-मार्ग की संपूर्ण प्रक्रिया का शिखर है, साधन-क्रम का अंतिम सोपान है; इसके बाद कोई कठिनाई, कोई बाधा-विपत्ति नहीं रह जाती और सब कुछ आसानी से होने लगता है। परंतु तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि एकबारगी ही तुम पूर्ण रूप से आत्म-निवेदन नहीं कर सकते। जब तुम एक या दो दिन किसी विशिष्ट प्रकार की किसी प्रबल क्रिया को होते हुए अनुभव करते हो तब प्रायः ही इस प्रकार का विश्वास आकर तुम्हें भ्रम में डाल देता है। तुम यह आशा बना लेते हो कि दूसरी प्रत्येक चीज बारी बारी से अपने आप ही आयगी; परंतु सच पूछा जाय तो यदि तुम जरा भी अपने आपसे संतुष्ट मानते हो तो तुम अपनी प्रगति को रोक देते हो। कारण तुम्हारी सत्ता परस्पर संघर्ष करने-वाली असंख्य प्रवृत्तियों से—या यों कहें कि विभिन्न व्यक्तित्वों से—भरी हुई है। जब उनमेंसे एक चीज अपने आपको भगवान् को दे देती है तो दूसरी ऊपर आ जाती हैं और साथ देना अस्वीकार कर देती है। "हमने अपने आपको नहीं दिया है", ऐसा वे चिल्ला उठती हैं और अपनी स्वतंत्रता और अपनी अभिव्यक्ति के लिये हो-हल्ला मचाना आरंभ कर देती हैं। तब तुम उन्हें चुप रहने का आदेश देते हो और उन्हें दिव्य सत्य दिखाते हो। तुम्हें बड़े धैर्य के साथ अपनी सारी सत्ता को छान डालना पड़ता है, उसके एक एक कोने को खोजना पड़ता है और अपने अंदर की उन सभी विद्रोही चीजों का सामना करना पड़ता है जो सामने आने के लिये अपने समुचित आंतरिक अवसर की प्रतीक्षा कर रही हैं। और जब तुम अपनी मनोमय, प्राणमय और अन्नमय प्रकृति को पूर्ण रूप से देख लेते हो, प्रत्येक चीज को भगवान् के प्रति समर्पित होने के लिये राजी कर लेते हो और इस तरह एक पूर्ण एकीभूत आत्म-निवेदन की अवस्था प्राप्त कर लेते हो, केवल तभी तुम अपनी सारी कठिनाइयों का अंत कर पाते हो। उसके बाद निश्चय ही तुम रूपांतर की ओर बड़े गौरव के साथ अग्रसर होते हो, क्योंकि अब तुम अंधकार से ज्ञान की ओर नहीं बल्कि ज्ञान से ज्ञान की ओर, ज्योति से ज्योति की ओर, आनंद से आनंद की ओर जाते हो.....। निःसंदेह पूर्ण आत्म-निवेदन की अवस्था प्राप्त करना कोई आसान काम नहीं है, और अगर तुम्हें इसे एकदम अपने ही बल पर, अपने ही स्वतंत्र प्रयास के द्वारा प्राप्त करना हो तो इसमें अत्यंत दीर्घकाल, प्रायः अनंत काल लग सकता है। परंतु भगवान् की कृपा जब तुम्हारे साथ होती है तब ठीक ऐसी बात नहीं होती। कभी कभी भगवान् से थोड़ा सा साहाय्य मिल जाने पर, एक अथवा किसी अन्य दिशा में जरा सा वेग मिल जाने पर कार्य अपेक्षाकृत बहुत आसान हो जाता है। अवश्य ही समय प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर करेगा।

पर, यदि तुम वास्तव में एक दृढ़ संकल्प कर लो तो, यह बहुत कम किया जा सकता है। संकल्प ही एकमात्र आवश्यक चीज है–संकल्प ही प्रधान कुंजी है।

त्याग

पुस्तकों में त्याग की बहुत चर्चा मिलती है–तुम्हें धन-संपत्ति का त्याग करना चाहिये, आसक्तियों का त्याग करना चाहिये, इच्छाओं का त्याग करना चाहिये। परंतु मैं इस परिणाम पर पहुंची हूं कि जब तक तुम्हें किसी चीज का त्याग करना पड़ता है, तुम इस पथ पर आरूढ़ ही नहीं हुए हो; क्योंकि जब तक तुम चीजों के वर्तमान स्वरूप से पूरी तरह ऊब नहीं जाते और जब तक तुम्हें उनके त्याग के लिये यत्न करना पड़ता है, तुम अतिमानसिक उपलब्धि के लिये तैयार नहीं हो। यदि अधिमानस की रचनाएं–अर्थात् इसका रचा हुआ यह संसार और वर्तमान व्यवस्था–तुम्हें अभी तक संतुष्ट करती हैं तो तुम अतिमानसिक उपलब्धि में भाग लेने की आशा नहीं कर सकते। चेतना के परिवर्तन के लिये योग्य तो तुम तभी होते हो जब तुम ऐसे संसार को विरक्तिकर, असह्य और अस्वीकार्य अनुभव करते हो। यही कारण है कि मैं त्याग की भावना को कुछ महत्त्व नहीं देती। त्याग से तो यह समझा जाता है कि तुम्हें उस चीज का त्याग करना है जिसे तुम महत्त्व देते हो, कि तुम्हें उस चीज का वर्जन करना है जिसे तुम रखने योग्य समझते हो। इसके विपरीत तुम्हें यह अनुभव होना चाहिये कि यह संसार कुरूप, मूढ़ एवं क्रूर है और असह्य दुःख-कष्ट से भरा हुआ है; एक बार तुम्हें ऐसा अनुभव होते ही, समस्त भौतिक एवं समस्त जड़ात्मक चेतना जो इसका ऐसा होना पसंद नहीं करती, इसका परिवर्तन चाहेगी, वह चिल्लायेगी "मैं कोई और चीज प्राप्त करूंगी–ऐसी चीज जो सत्य-शिव-सुन्दर हो, आनंद, ज्ञान और चेतना से परिपूर्ण हो!" यहां सब कुछ अंधकारमय अचेतना के समुद्र पर तैर रहा है। परंतु जब तुम अपनी समस्त इच्छा, अपने समस्त संकल्प, अपनी समस्त अभीप्सा और उत्कट लगन के साथ भगवान् को चाहते हो तो वे अवश्यमेव प्राप्त होते हैं। इसका अभिप्राय केवल संसार को सुधारना ही नहीं है। ऐसे लोग बहुत हैं जो सरकार को बदलने और सामाजिक सुधार एवं परोपकार के कार्य करने के लिये शोर मचाते हैं, यह मानते हुए कि इससे वे संसार को अधिक अच्छा बना सकते हैं। परंतु 'हम' चाहते हैं एक नया संसार, एक सच्चा संसार, सत्य-चेतना का एक प्राकटच। और यह होगा, अवश्य होगा,–और जितना जल्दी हो उतना ही अच्छा!

तथापि यह केवल आंतरिक परिवर्तन भर नहीं होना चाहिये। भौतिक जीवन का भी रूपांतर करना होगा। जड़ जगत् केवल हमारे अंदर ही चेतना का परिवर्तन नहीं चाहता है। यह क्रियात्मक दृष्टि से कहता है: "तुम आनंद में चले जाते हो, प्रकाशयुक्त बन जाते हो, दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हो; पर इससे मैं तो नहीं बदल जाता। मैं फिर भी वही नरक बना रहता हूं जो मैं कार्यतः हूं।" चेतना का सच्चा परिवर्तन वह होगा जो संसार की भौतिक अवस्थाओं को बदलकर इसे एक सर्वथा नया संसार बना देगा।

'भौतिक' में भगवत्प्रेम के लिये अभीप्सा

यह वह फूल है जिसे हमने "भौतिक में भगवत्प्रेम के लिये अभीप्सा" का नाम दिया है। 'भौतिक' से मेरा मतलब है भौतिक चेतना, अत्यंत साधारण बहिर्मुखी चेतना, अधिकांश मनुष्यों की सामान्य चेतना जो उच्चतर वस्तुओं की अभीप्सा करने के स्थान पर सुख-आराम, उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्रों और सुखद संबंधों आदि को अत्यधिक महत्त्व देती हैं। भौतिक में भगवत्प्रेम की अभीप्सा का अर्थ यह है कि भौतिक यह अनुभव करने के सिवा और कुछ नहीं चाहे कि भगवान् उससे कैसे प्रेम करते हैं। उसे अनुभव होता है कि उसके सभी सामान्य सुख-संतोष नितांत अपर्याप्त हैं। परंतु इस विषय में कोई समझौता नहीं हो सकता: यदि शरीर भगवान् का प्रेम चाहता है तो उसे केवल उसी की कामना करनी होगी और यह नहीं कहना होगा कि, "मैं भगवान् का प्रेम प्राप्त करूंगा और साथ ही अपनी अन्य आसक्तियां, आवश्यकताएं और सुखभोग भी बनाये रखूंगा...."

अभीप्सा का मूल स्थान चैत्य केंद्र है जहां से यह सत्ता के एक या दूसरे भाग में विकीर्ण या व्यक्त होती है। जब मैं शरीरगत अभीप्सा की बात कहती हूं तो मेरा मतलब यह होता है कि तुम्हारी जो चेतना भौतिक आराम और हित के लिये तरसती है उसी को, तुम्हारी प्रकृति के उच्चतर भागों के दबाव में आकर नहीं बल्कि स्वयमेव, एकमात्र भगवान् के प्रेम की ही याचना करनी चाहिये। साधारणतः तुम्हें अपने उच्चतर भागों की सहायता से इसे प्रकाश दिखाना होता है; यह तुम्हें निश्चय ही दृढ़तापूर्वक करना होगा, अन्यथा शरीर कभी नहीं सीखेगा और अपने आप सीखने में तो इसे प्रकृति के युगों-लंबे साधारण चक्र में से गुजरना पड़ेगा। निःसंदेह प्रकृति के चक्र का उद्देश्य यह है कि वह इसे सब संभव प्रकार के सुख-संतोष दिखलाये और उन्हें समाप्त करके इसे यह निश्चय करा दे कि उनमेंसे कोई भी इसे वास्तव में संतुष्ट नहीं कर सकता है और गहराई में जिसकी यह खोज कर रहा है वह दिव्य संतोष ही है। योग में हम प्रकृति की इस मंद गति को तेज कर देते हैं और भौतिक चेतना पर दबाव डालते हैं कि यह सत्य को देखे और उसे जानना एवं चाहना सीखे। परंतु इसे सत्य दिखायें कैसे? हां, ठीक वैसे ही जैसे तुम एक अंधेरे कमरे में प्रकाश करते हो। अपनी भौतिक चेतना के अंधकार को अंतर्ज्ञान से और अपने अधिक संस्कृत भागों की अभीप्सा से प्रकाशमान करो और ऐसा तब तक करते चले जाओ जब तक कि यह अनुभव न कर ले कि साधारण तुच्छ वस्तुओं के लिये इसकी तृष्णा कैसी वृथा एवं असंतोषजनक है, और ऐसा अनुभव करके यह सहज भाव से सत्य की ओर न मुड़ जाय। जब यह मुड़ जायगी तो तुम्हारे संपूर्ण जीवन का कायापलट हो जायगा—यह एक निर्भ्रांत अनुभव है।

जब बचपन में मैं अपनी मां से भोजन या किसी ऐसी छोटी-सी बात के विषय में शिकायत करती तो वे मुझसे सदा यही कहतीं कि जाओ, इन तुच्छ विषयों की चिंता न करके अपना काम करो या पढ़ो-लिखो। वे मुझसे कहतीं कि क्या तुमने अपने विषय में यह सुखद भावना बना रखी है कि तुम आराम के लिये पैदा हुई हो। वे कहतीं "तुम उच्च आदर्श को चरितार्थ करने के लिये जन्मी हो", और इतना कहकर मुझे चलता करतीं। वे बिलकुल ठीक कहती थीं, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि सर्वोच्च आदर्श के विषय में उनका

विचार हमारे मानदंडों से कहीं छोटा था। हम सभी सर्वोच्च आदर्श के लिये उत्पन्न हुए हैं। अतएव जब कभी हमारे आश्रम में अधिक आराम और भौतिक सुख की कोई तुच्छ मांग पूरी नहीं की जाती तो यह तुम्हारी भलाई के लिये और जिस उद्देश्य के लिये तुम यहां आये हो उसकी पूर्ति के लिये ही होता है। मांग की अस्वीकृति वस्तुतः उतने अंश में कृपा ही है जहां तक कि तुम इसके द्वारा उस सर्वोच्च आदर्श के योग्य और उसके अनुसार गढ़े जाने के अधिकारी समझे जाते हो।

पौधों में अभीप्सा

क्या तुमने कभी किसी वन को असंख्य पेड़-पौधों सहित प्रकाश के लिये ऐकांतिक रूप से संघर्ष करते नहीं देखा है—धूप प्राप्त करने के लिये ही मुड़ते-तुड़ते और अन्य सब संभव तरीकों से यत्न करते नहीं देखा है? भौतिक स्तर पर अभीप्सा का अनुभव बस ठीक यही है—प्रकाश की प्राप्ति के लिये संवेग, गति एवं प्रेरणा। मनुष्यों की अपेक्षा पौधों की भौतिक सत्ता में यह अधिक मात्रा में होती है। उनका संपूर्ण जीवन प्रकाश की पूजा है। निःसंदेह प्रकाश भगवान् का स्थूल प्रतीक है और सूर्य, जड़प्राकृतिक अवस्थाओं में, परम चेतना का प्रतिनिधि है। पौधों ने इसे अपने सरल अंध ढंग से सर्वथा स्पष्ट रूप में अनुभव किया है। यदि तुम उनकी अभीप्सा से सचेतन होना जान लो तो तुम्हें पता चलेगा कि उनकी अभीप्सा अत्युत्कट है। जड़प्रकृति के स्तर पर वे मेरे प्रभाव के प्रति सबसे अधिक खुले हुए हैं—मनुष्य की अपेक्षा एक फूल में मैं चेतना की किसी अवस्था को अधिक सुगमता से संचारित कर सकती हूं: वह अत्यंत ग्रहणशील है, चाहे अपने अनुभव को अपने प्रति रूपायित करना वह नहीं जानता क्योंकि उसमें मन नहीं है। परंतु शुद्ध आंतरात्मिक चेतना प्राप्त करना उसके लिये सहज-स्वाभाविक है। अतएव जब तुम मुझे फूल देते हो, उनकी अवस्था प्रायः सदैव तुम्हारी अवस्था की सूचक होती है। ऐसे कई लोग हैं जो मेरे पास ताजा फूल कभी नहीं ला पाते—फूल चाहे ताजा हो तो भी उनके हाथों में वह कुम्हला जाता है। परंतु और कई लोग सदा ताजे फूल ही लाते हैं और मुरझाते फूलों में भी जान डाल देते हैं। यदि तुम्हारी अभीप्सा तीव्र है, तुम्हारे पुष्प-उपहार ताजे होंगे। और यदि तुम ग्रहणशील हो तो तुम उस संदेश को बड़ी आसानी से आत्मसात् भी कर सकोगे जो मैं अपने दिये फूलों में निहित कर देती हूं। जब मैं फूल देती हूं, मैं तुम्हें चेतना की अवस्थाएं देती हूं; फूल माध्यम हैं और वे प्रभाव उत्पन्न करते हैं या नहीं यह केवल तुम्हारी ग्रहणशीलता पर निर्भर करता है।

भागवत चेतना और संकल्प के साथ एकत्व

जो शक्ति अज्ञान में लीन होने पर प्राणिक कामनाओं का रूप ले लेती है वह वही है जो, अपने शुद्ध रूप में, रूपांतर की प्रेरणा एवं क्रियाशक्ति है। परिणामतः, तुम्हें सावधान

रहना होगा कि न तो तुम कामनाओं को पूरी-करने-योग्य आवश्यकताएं समझकर उनका स्वच्छन्दता से उपभोग करो और न प्राणिक शक्ति को निश्चितरूपेण अशुभ मानकर उसका त्याग ही कर दो। तुम्हें जो करना चाहिये वह यह कि अपनी संपूर्ण सत्ता के द्वार भगवान् के प्रति पूरी तरह से खोल दो। जिस क्षण तुम कोई चीज छिपाते हो, तुरंत ही तुम सीधे असत्य में पग धरते हो। तुम्हारा किसी चीज को जरा सा भी छिपाना-दबाना तुम्हें तुरंत अचेतना में उतार लाता है। यदि तुम पूर्णतः सचेतन होना चाहते हो तो सदा सत्य के समक्ष रहो–उसकी ओर अपने को पूर्ण रूप से खोल डालो और भरसक यत्न करो कि वह तुम्हारे अंदर गहराई तक एवं तुम्हारी सत्ता के कोने कोने में दृष्टि डाल सके। वही तुम्हारे अंदर प्रकाश, चैतन्य तथा और ऐसी सभी चीजें लायगा जो अत्यंत सत्य हैं। पूर्ण रूप से विनीत बनो–अर्थात् जो तुम हो और जो तुम्हें होना है उनके बीच के अंतर को जानो, स्थूल भौतिक मन को यह मत सोचने दो कि वह जानता है जब कि वह नहीं जानता है; कि वह निर्णय कर सकता है, जब कि वह निर्णय नहीं कर सकता है। विनय का अभिप्राय है अपने आपको पूरे हृदय से भगवान् को दे देना, सहायता की याचना करना और प्रणत होकर स्वातंत्र्य और दायित्वमुक्ति अधिगत कर लेना जिससे मन को नितांत शांति प्राप्त हो जाती है। अन्य किसी प्रकार से तुम भागवत चेतना और भागवत संकल्प से एकत्व प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते। चेतना के साथ एकत्व पहले प्राप्त होता है या संकल्प के साथ यह निःसंदेह उस मार्ग पर निर्भर करता है जिससे तुम भगवान् के पास पहुंचते हो। यदि तुम गहराई तक अंदर जाओ तो स्वभावतः ही चेतना के साथ एकत्व पहले प्राप्त होगा, जब कि यदि तुम वैश्व गति को अपनी दृष्टि का केंद्र बनाओ तो संभवतः संकल्प के साथ एकत्व ही पहले प्राप्त होगा। परंतु कोई बंधा-बंधाया सार्वभौम नियम बनाना किसी प्रकार भी संभव नहीं है क्योंकि साधना नमनीय और तरल वस्तु है और भागवत चेतना एवं संकल्प एक दूसरे से घनिष्ठतया संबद्ध हैं, एक ही अखंड सत् के दो पक्ष हैं। तो भी यह ध्यान में रहे कि तुम्हारे विचार या कर्म की केवल बाह्य समानता से यह सिद्ध नहीं होता कि तुम्हें यह एकत्व उपलब्ध हो गया है। ऐसे सभी प्रमाण उथले होते हैं, क्योंकि वास्तविक एकत्व का अर्थ है तुम्हारी सामान्य चेतना का समग्रतया परिवर्तित हो जाना, उसका पूर्ण रूप से पलट जाना। अपने मन में या अपनी चेतनता की साधारण अवस्था में तुम इसे प्राप्त नहीं कर सकते। तुम्हें उससे बिलकुल पृथक् हो जाना होगा–उसके बाद ही तुम भागवत चेतना से एक हो सकते हो, उससे पहले नहीं। एक बार जब तुम्हें एकत्व का वास्तविक अनुभव हो जायगा तो अपने विचार और कर्म की मेरे विचार और कर्म के साथ समानता के द्वारा एकत्व प्रमाणित करने की बात पर ही तुम्हें हंसी आयगी। जो लोग वर्षों एक ही घर में एक साथ रहते हैं या प्रति दिन एक दूसरे के घनिष्ठ संपर्क में आते हैं, वे एक प्रकार का समान मन विकसित कर लेते हैं–वे एक ही समान सोचते और काम करते हैं। परंतु ऐसे निरे मानसिक संपर्क से तुम भगवान् के सदृश होने का दावा नहीं कर सकते। तुम्हें अपनी चेतना के पूर्ण रूपांतर के लिये सहमत होना होगा। एकत्व का सच्चा लक्षण यह है कि तुम्हारी चेतना अपने गुण-कर्म में भागवत चेतना के गुण-कर्म के समान ही हो और ज्ञान के उसी एक अतिमानसिक उद्गम से निर्गत हो। कभी कभी बाह्य क्षेत्र में तुमसे वैसा ही कर्म हो जाता है जैसा कर्म भगवान् करते प्रतीत होते हैं–यह

तो दैवसंयोग के सिवा कुछ नहीं हो सकता। ऐसी तुलनाओं से एकत्व प्रदर्शित करना एक बहुत छोटी बात से बहुत बड़ी बात सिद्ध करने की चेष्टा करना है! सच्चा प्रमाण तो यह है कि तुम जो भी कर्म करो उसमें तुम्हें भागवत चेतना का साक्षात् अनुभव हो। यह एक अचूक प्रमाण है, क्योंकि यह तुम्हारी सत्ता को पूर्ण रूप से बदल डालता है। यह स्पष्ट ही है कि भागवत चेतना में तुम तुरंत ही प्रतिष्ठित नहीं हो सकते; परंतु अपने अंदर इसके स्थिर हो जाने से पूर्व भी तुम जब तब इसका अनुभव प्राप्त कर सकते हो। भागवत चेतना आयगी और चली जायगी, किंतु जब तक एकत्व रहेगा तुम मानों कोई और ही व्यक्ति होगे! सारा संसार नया आकार धारण कर लेगा और तुम स्वयं तथा वस्तुओं के विषय में तुम्हारी अनुभूति और दृष्टि–सभी कुछ बदल जायगा। जब तक तुम्हें अनुभव नहीं हो जाता, तुम्हारा झुकाव प्रमाण ढूंढ़ने की ओर होता है; पर प्रमाण और परिणाम तो गौण वस्तुएं हैं–एकत्व का मूल अर्थ यह है कि अपनी चेतना में तुम किसी मनुष्य की अपेक्षा अधिक जानते हो। यदि शुद्ध, शांत और ग्रहणशील मन प्राप्त कर लेने के कारण तुम मेरे संकल्पों के अनुसार विचार तथा कर्म करने में सफल हो जाते हो तो यह सब तो अच्छा ही है। परंतु मार्ग के एक कदम को तुम्हें भूल से अंतिम मंजिल नहीं समझ लेना चाहिये। कारण, सुनिश्चित एकत्व और मानसिक ग्रहणशीलता में मुख्य भेद यह है कि जो मैं तुमसे कराना चाहती हूं उसे एक मानसिक सूत्र का रूप देकर वह सूत्र तुम्हारे शुद्ध और शांत मन में स्थापित करना होता है, जब कि वास्तविक एकत्व की स्थिति में मुझे ऐसा रूप देने की बिलकुल आवश्यकता नहीं होती। मैं बस तुम्हारे अंदर आवश्यक सत्य-चेतना स्थापित कर देती हूं और शेष सब स्वयमेव चरितार्थ हो जाता है, क्योंकि तब स्वयं मैं ही तुम्हारे अंदर होती हूं . . . . . मैं निःशंक कह सकती हूं कि इस सबकी कल्पना करना तुम्हारे लिये कुछ कठिन है, क्योंकि यह अनुभव प्रायः अवर्णनीय ही है। तथापि, भागवत इच्छा के साथ अपनी इच्छा के एकत्व की कल्पना करना इतना कठिन नहीं है, क्योंकि तुम ऐसे संकल्प की कल्पना कर सकते हो जो बिना संघर्ष के कार्यकर और सर्वत्र विजयी रूप में व्यक्त होता है। यदि तुम्हारे समस्त संकल्प का झुकाव उससे एकत्व लाभ करने की ओर हो तो तुम्हें एक ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है जो एकत्व के निकट होती है। अर्थात्, तुम अपनी पृथक् अहंभावमयी इच्छा खोने लगते हो और तुम्हारी सत्ता स्वभावतः ही भगवान् का आदेश पूरा करने के लिये तरसती है, और यह न जानते हुए भी कि परमोच्च इच्छा क्या है, ठीक वही चाहती है जो भगवान् चाहते हैं। परंतु इसका अर्थ है उच्चतर मार्गदर्शन की संशयरहित स्वीकृति। तुम्हारे अंदर की जो शक्ति प्राणिक कामना के रूप में विकृत हो गई है पर जो मूलतः उपलब्धि के लिये संवेग ही है उसे भागवत संकल्पशक्ति के साथ एक होना होगा, जिससे तुम्हारी समस्त संकल्प-शक्ति उसके साथ ऐसे मिल जाय जैसे पानी की बूंद समुद्र में मिल जाती है। तब इसकी दोष-त्रुटियां सदा के लिये विदा हो जायंगी और इनके स्थान पर अधिकाधिक प्रकट होगी भागवत संकल्प की परम गरिमा–सर्वशक्तिमत्ता।

सहिष्णुता—प्राण की प्रशंसा के लिये भूख—परिवर्तित प्राण के लक्षण

सहिष्णुता तुम्हारा आदर्शमंत्र हो : अपनी अंतःस्थ प्राणशक्ति—अपने प्राणमय पुरुष—को सिखाओ कि वह शिकायत न करे बल्कि महान् सिद्धि के लिये आवश्यक सभी अवस्थाओं को सहन करे। शरीर अत्यंत सहिष्णु सेवक है, यह परिस्थिति के दबाव को भारवाही पशु की भांति चुपचाप सहता है। जो बराबर बुड़बुड़ाता और बेचैन रहता है वह तो प्राणमय पुरुष ही है। यह शरीर को जिस दासता और यंत्रणा में जकड़े रखता है उसका कुछ हद-हिसाब नहीं। कैसे यह बेचारे शरीर को अपनी मनमौज और उमंग-तरंग के अनुसार तोड़ता मोड़ता है और बिगाड़ता रहता है, उससे ऐसी अनुचित मांग करता है कि प्रत्येक चीज मेरी सनक के अनुसार ही होनी चाहिये! परंतु सहिष्णुता का असली मर्म ही यह है कि प्राण को अपनी ओछी रुचि-अरुचियों का त्याग कर अत्यंत विकट परिस्थिति में भी समता कायम रखना सीखना चाहिये। जब कोई तुमसे रूखा व्यवहार करे या जब तुम्हारे पास अपनी बेचैनी दूर करने का कोई साधन न हो तब भी तुम्हें घबराना नहीं चाहिये बल्कि प्रसन्न बने रहना चाहिये। कोई भी चीज तुम्हें लेशमात्र भी व्याकुल न कर सके। जब कभी प्राण अपने तुच्छ दुःखों को खूब बढ़ा-चढ़ाकर सुनाना शुरू करे तब जरा रुककर सोच तो लो कि इस संसार में बहुत से लोगों की अपेक्षा तुम कितने अधिक सुखी हो। क्षणभर सोचो तो सही कि गतयुद्ध में जिन सैनिकों ने भाग लिया उन्हें कैसी कैसी विपत्तियों में से गुजरना पड़ा। यदि तुम्हें वैसी कठिनाइयां झेलनी पड़तीं तो तुम अपनी शिकायतों की निपट मूर्खता समझ जाते। तो भी मैं नहीं चाहती कि तुम कठिनाइयां मोल लेते फिरो—मेरा मतलब यही है कि तुम्हें अपने जीवन के छोटे मोटे, निरर्थक दुःखों को सहना सीखना चाहिये।

सहिष्णुता के बिना कभी भी कोई महान् कार्य सिद्ध नहीं होता। यदि तुम महापुरुषों के जीवनचरित्र पढ़ो तो तुम देखोगे कि कैसे वे प्राण की दुर्बलताओं के सामने चट्टान की तरह अटल रहे। आज भी हमारी सभ्यता का सच्चा मर्म यही है कि हम प्राण में सहनशीलता के द्वारा शरीर पर प्रभुत्व प्राप्त करें। यह प्रत्यक्ष ही है कि जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रफुल्लता और साहस के साथ तथा निधड़क होकर कठिनाइयों का सामना करने की आवश्यकता होती है—ये सभी गुण सहिष्णुता के इस आदर्श के अंग हैं। भौतिक विज्ञान की उन्नति भी अनगिनत कठिन कसौटियों एवं परीक्षाओं पर निर्भर करती है और सफलता की प्राप्ति के पूर्व उनमेंसे गुजरना आवश्यक होता है। निःसंदेह, इस आश्रम में जैसा गुरुतर कार्य हमने अपने ऊपर लिया है उसमें भी हमें सहिष्णुता की कुछ कम आवश्यकता नहीं है। तुम्हें करना यह चाहिये कि ज्यों ही प्राण विरोध करे त्यों ही उसकी खूब खबर लो, क्योंकि, जब शरीर का कोई मामला हो तो कुछ सोच-समझकर तथा सावधानी से बरताव करना उचित है, परंतु प्राण के संबंध में कठोर "दण्ड" ही एकमात्र उपाय है। प्राण ने शिकायत की नहीं कि उसका घोर विरोध करो, क्योंकि जो क्षुद्र चेतना प्रकाश और सत्य की याचना करने के बजाय ऐश-आराम और सामाजिक सुख-सुविधाओं को इतना अधिक महत्त्व देती है उससे मुक्त होने का और कोई तरीका नहीं।

प्राण की एक अत्यंत सर्वसाधारण मांग प्रशंसा की प्राप्ति होती है। यदि इसकी

निन्दा की जाय और इसके साथ ऐसा बरताव किया जाय मानों यह एक तुच्छ वस्तु हो तो वह इसे बुरा लगता है। परंतु इसे डांट-फटकार के लिये बराबर तैयार रहना होगा और उसे पूर्ण शांति से सहना होगा; इसे अपनी प्रतिष्ठा की ओर ध्यान नहीं देना चाहिये, यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि कामना-पूर्त्ति की एक एक चेष्टा असत्य के अधिपतियों की वेदी पर चढ़ावा चढ़ाने के बराबर है। प्राणशक्ति के सूक्ष्म लोक की सत्ताएं, जिनसे हमारा प्राण संबद्ध है, अपने भक्तों की पूजा पर जीती और फलती-फूलती हैं, इसी लिये वे नए मत-मतांतरों की प्रेरणा संचारित करती रहती हैं ताकि उनकी पूजा-प्रतिष्ठा और स्तुति के महाभोज कभी समाप्त न होने पावें। उसी प्रकार तुम्हारा अपना प्राणमय पुरुष तथा उसकी मूलवर्ती प्राणशक्तियां दूसरों की की हुई चापलूसियों से पल-पुसकर पनपती हैं–अर्थात्, और भी अधिक स्थूल अज्ञान में ग्रस्त हो जाती हैं। परंतु तुम्हें स्मरण रखना चाहिये कि हमारे समान अज्ञान के स्तर पर रहनेवाले मनुष्य हमारी जो स्तुति करते हैं वह असल में कौड़ी काम की नहीं, वह उतनी ही निरर्थक है जितनी ऐसे आदमियों की की हुई हमारी निंदा। ऐसे लोग चाहे कितने ही आडंबरशाली क्यों न हों पर उनकी की हुई निंदा-स्तुति वृथा एवं निःसार होती है। तथापि दुर्भाग्यवश, प्राण अत्यंत गले-सड़े भोजन के लिये भी तरसता है और इतना लोभी होता है कि अयोग्यता के साक्षात् अवतारों से भी प्रशंसापत्र स्वीकार कर लेता है। यहां मुझे पेरिस की कला-प्रदर्शनी के उद्घाटन के वार्षिक समारोह का स्मरण हो आता है। उस अवसर पर वहां का राष्ट्रपति चित्रों का निरीक्षण करता है, जोर जोर से बोलकर बताता है कि अमुक चित्र किसी दृश्य का है और अमुक किसी प्राणी का, वह इतनी लचर टिप्पणी ऐसे हावभाव से करता है मानों उसे चित्रकला का अत्यंत प्रगाढ़ मर्म-स्पर्शी ज्ञान हो। चित्रकारों को खूब पता होता है कि यह टिप्पणी कैसी बेकार है और फिर भी वे राष्ट्रपति की साक्षी को अपनी प्रतिभा के प्रमाणस्वरूप उद्धृत करने का मौका कभी नहीं चूकते। सचमुच ही, यश का ऐसा भूखा, लालची है मनुष्य का प्राण।

परंतु जो चीज वास्तव में अमूल्य है वह सत्यदर्शियों की सम्मति है। जब कोई व्यक्ति भागवत सत्य से संबंध प्राप्त कर लेता है और उसे प्रकट कर सकता है तो उसकी दी हुई सम्मति स्तुति या निंदामात्र नहीं होती, वह होता है तुम्हारे संबंध में भगवान् का विचार, तुम्हारे गुणों का भगवान् द्वारा मूल्यांकन, तुम्हारे पुरुषार्थ पर भगवान् की अचूक मुहरछाप। तुम्हारी बस यही कामना होनी चाहिये कि मैं सत्य के शब्द के सिवा और किसी चीज का मान न करूं; अपने मानदंड को इस प्रकार ऊंचा करने के लिये तुम्हें अपने अंदर अग्नि प्रज्वलित रखनी होगी, वह अग्नि जो रूपांतर के लिये आत्मा में धधकती हुई ज्वाला है। यह ध्यान देने की बात है कि जब अग्नि भड़क उठती है तब कैसे तुममें उन सस्ती प्रशंसा-ओं के प्रति एकदम घृणा पैदा हो जाती है जो तुम्हें पहले इतना हर्षित करती थीं और कैसे साफ साफ तुम यह समझने लगते हो कि तुम्हारी प्रशंसा की चाह अरूपांतरित प्रकृति की निम्न चेष्टामात्र थी। अग्नि तुम्हें तुम्हारी वर्तमान त्रुटियों का तीव्र भान कराके स्पष्ट दिखा देती है कि तुम्हारे सामने संभाव्य उन्नति का कैसा विशाल क्षेत्र खुला पड़ा है। दूसरे लोग सहस्रमुख से तुम्हारे जो गीत गाते थे उनके प्रति तुम्हें ऐसा वैराग्य हो जाता है कि उन प्रशंसकों के विरुद्ध तुममें तीव्र रोष का सा भाव पैदा होता है जिन्हें तुम पहले कभी अपने मित्र मानते थे। इसके विपरीत, सब प्रकार की निंदा एवं आलोचना को अब तुम सत्य की ओर

अपनी नम्र अभीप्सा के लिये आहुति समझकर उसका स्वागत-सत्कार करते हो। अब यदि दूसरे तुमसे वैर-विरोध करते हैं तो उससे तुम्हारे अंदर खेद वा अपमान का भाव पैदा नहीं होता। कारण, कम से कम, अब तुम अत्यंत सुगमता से उसकी उपेक्षा कर सकते हो; अधिक से अधिक, तुम उसे अपनी वर्तमान दशा का एक और प्रमाण समझते हो जो तुम्हें उकसाता है कि भगवान् के प्रति समर्पण करके अपनी हीन अवस्था से ऊपर उठ जाओ।

अग्नि के प्रभाव के कारण तुम्हारे प्राण के रूपांतर का एक और अपूर्व लक्षण यह होता है कि तुम अपनी कठिनाइयों और बाधाओं का मुस्कराते हुए सामना करने लगते हो। अब, यदि तुम किसी क्षण सोलहों आने खरे नहीं उतरते तो तुम पहले की तरह अपनी भूलों पर पछताते हुए और अत्यंत उदास होकर शोक से मूर्छित नहीं हो जाते। तुम केवल मुसकराकर उदासी को दूर खदेड़ देते हो। सैंकड़ों भूलें हो जाने पर भी तुम उनकी कुछ परवा नहीं करते: मुसकराते हुए तुम उन्हें पहचानते हो कि तुमने भूलें की हैं और मुस्कराते हुए ही तुम संकल्प करते हो कि ऐसी मूर्खता फिर कभी नहीं करूंगा। सब प्रकार की उदासी और निराशा का कारण होती हैं विरोधी शक्तियां। वे तुमपर उदासी का पर्दा डालकर जितनी प्रसन्न होती हैं उतनी और कभी नहीं। निःसंदेह नम्रता एक और ही चीज है और उदासी बिलकुल दूसरी चीज, पहली तो है दिव्य गति और दूसरी अंधकारमय शक्तियों की अत्यंत असंस्कृत अभिव्यक्ति। अतएव, अपने कष्टों का सहर्ष सामना करो, रूपांतर के मार्ग को घेरनेवाली विघ्न-बाधाओं का निर्विकार प्रसन्नता से मुकाबला करो। शत्रु को भगाने का सर्वोत्तम साधन है उसके मुंह पर हंस देना। तुम शायद दिनों तक उसके साथ मुठभेड़ और संघर्ष करते रहो और फिर भी कदाचित् उसका साहस क्षीण न हो; किंतु जरा एक बार उसपर हंसकर देख तो लो! वह उलटे पांव भाग खड़ा होता है। आत्मविश्वास और ईश्वरविश्वास से भरी हुई हंसी शत्रु को बिलकुल चकनाचूर कर देनेवाली बड़ी से बड़ी शक्ति है—इससे शत्रु के नायकों का हौसला टूट जाता है, सेना में आतंक छा जाता और तुम्हारी विजय का पथ प्रशस्त हो जाता है और तुम सफलतापूर्वक बढ़े चले चलते हो।

रूपांतरित प्राण को उपलब्धि के मार्ग में भी हर्ष अनुभव होता है। इस मार्ग की सभी अनिवार्य कठिनाइयों को वह सहर्ष स्वीकार करता है। जब उसके सामने सत्य प्रकट कर दिया जाता है और उसकी निम्न प्रकृति में होनेवाली असत्य की क्रीड़ा उसे साफ साफ दिखा दी जाती है तब उसके हर्ष का पारावार नहीं रहता। वह योग को भार समझकर नहीं बल्कि अत्यंत आनंददायक कार्य के रूप में करता है। रूपांतर के लिये अधिक से अधिक जो कुछ भी आवश्यक हो उस सबको वह हंसते हंसते सहने को उद्यत होता है। वह न तो शिकायत करता और न बुड़बुड़ाता है बल्कि आनंदपूर्वक सहता है क्योंकि यह सब कुछ वह भगवान् के लिये कर रहा होता है। उसे ध्रुव विश्वास होता है कि विजय होकर रहेगी। वह अपने इस विश्वास से कभी क्षणभर के लिये भी डांवाडोल नहीं होता कि श्रीअरविन्द ने रूपांतर के जिस गुरुतर कार्य का बीड़ा उठाया है वह पूरा होकर रहेगा। यह तो एक असंदिग्ध तथ्य है, इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं कि जो कार्य हमने अपने हाथ में लिया है वह फलीभूत होगा। हम अतिमानस का परीक्षणमात्र नहीं कर रहे बल्कि उसकी अनिवार्य अभिव्यक्ति साधित कर रहे हैं। रूपांतरित प्राण को भावी विजय का पहले से ही ज्ञान होता है, वह प्रगति के लिये ऐसा दृढ़ संकल्प बनाये रखता है जो कभी पीछे

मुड़कर नहीं देखता, वह अपने आपको शक्ति से परिपूर्ण अनुभव करता है, और वह शक्ति पैदा होती है भगवान् की विजय में विश्वास से। वह जानता है कि भगवान् उसके अंदर सदा विराजमान रहकर जो आवश्यक है वह सब कुछ कर रहे हैं और उसे अपने शत्रुओं का सामना करने तथा अंत में उन्हें परास्त करने के लिये अजेय बल से भर रहे हैं। वह भला निराश क्योंकर हो और क्यों वह अपने दुःख का रोना रोवे? रूपांतर तो होकर ही रहेगा। कोई भी चीज उसे कभी रोक नहीं सकती, सर्वशक्तिमान् का विधान टाले नहीं टलेगा। इसलिये सब प्रकार के भय-संशय और दुर्बलता को दूर भगाकर वीरतापूर्वक निरंतर सहते रहने का संकल्प करो, अंत में वह महान् दिन आ पहुंचेगा जब लंबा संग्राम स्थायी विजय में परिणत हो जायगा।

असत्य पर विजय

असत्य के अधिपति आज बेचारी मानवजाति पर प्रायः पूर्ण रूप से अधिकार जमाये हुए हैं। मनुष्य की निम्नतर प्राण-शक्ति एवं निम्नतर प्राणिक सत्ता ही नहीं अपितु उसका संपूर्ण मन इनके अधीन है। वह अनगिनत प्रकार से इनकी पूजा करता है, क्योंकि ये अपनी धूर्त्तता में अत्यंत प्रवीण हैं और नाना ढंग के लुभानेवाले वेषों में अपने स्वार्थों को सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने असत्य से ऐसे चिपट जाते हैं जैसे यह कोई खजाना हो, इसे वे जीवन की सुन्दरतम वस्तुओं से भी अधिक स्नेहपूर्वक पालते-पोसते हैं। इसकी रक्षा के संबंध में शंकित होकर वे इसे अपने अंदर सावधानी से बहुत गहरा गाड़ देते हैं; किंतु जब तक वे इसे बाहर निकालकर भगवान् को समर्पित नहीं कर देंगे तब तक उन्हें सच्चा सुख कभी नहीं प्राप्त होगा।

निःसंदेह इसे बाहर लाकर प्रकाश के आगे रख देने का कार्य ही अपने आपमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होगा और वह अंतिम विजय का मार्ग प्रशस्त कर देगा। प्रत्येक असत्य को खोलकर रख देना अपने आपमें एक विजय है–दोष स्वीकार करने का प्रत्येक कार्य अंधकार के एक एक अधिपति के ध्वंस के समान है। अपने दोष को मनुष्य अपने प्रति स्वीकार कर सकता है, इस शर्त्त पर कि यह कार्य वह पूरी सचाई के साथ करे, यह नहीं कि वह जरा सा खेद प्रकाशित करे और वह खेद भी अगले क्षण भूल जाय तथा उसमें गलती को पुनः न करने के अटूट निश्चय का भी बल न हो। अथवा वह गुरु के रूप में मूर्त्तिमंत भगवान् के आगे अपना दोष स्वीकार कर सकता है। सीधा गुरु के सामने अपना दोष स्वीकार करने का परिणाम यह होता है कि तुम्हारा निश्चय तब तुम्हारा अपना नहीं रहता, क्योंकि, यदि तुम सच्चे हो तो भगवान् का आदेश तुम्हारे पक्ष में हो जाता है। इसका अभिप्राय समझाने के लिये मैं तुम्हें एक निजी अनुभव सुनाती हूं। यह अनुभव उस समय का है जब मैं पांडिचेरी में श्रीअरविन्द से पहले पहल मिली थी। मैं गहरे ध्यान में थी, अतिमानस में वस्तुओं का स्वरूप देख रही थी, उन वस्तुओं का जो भविष्य में जन्म लेनेवाली थीं पर जो किसी कारण प्रकट नहीं हो रही थीं। जो कुछ मैंने देखा था वह श्रीअरविन्द को बताया और उनसे पूछा कि क्या ये चीजें प्रकट होंगी। उन्होंने

उत्तर में केवल "हां" कहा। उसी क्षण मैंने देखा कि अतिमानस ने पृथ्वी का स्पर्श किया और चरितार्थ होना शुरू हो गया। यह पहला अवसर था जब मैंने सत्य को वास्तविक रूप देने की शक्ति अपनी आंखों देखी: ठीक यही शक्ति तुम्हें सत्य की उपलब्धि करा-एगी जब तुम पूरी सचाई के साथ इसकी शरण में आओगे, यह कहते हुए कि "इस असत्य से मैं मुक्त होना चाहता हूं", और तुम्हें इसका उत्तर मिलेगा—"हां"।

प्राणिक रूपांतर—पुनर्जन्म—मृत्यु के बाद व्यक्ति का अस्तित्व

यह अत्यंत आवश्यक है कि प्राण परिवर्तन के लिये सहमत हो: इसे रूपांतर को स्वीकार करना सीखना होगा। प्राण अपने आप में कोई निन्द्य वस्तु नहीं है: वास्तव में, समस्त बल, शक्ति, गति और प्रेरणा इसीसे प्राप्त होती हैं—इसके बिना तुम शांत, ज्ञानी और निर्लिप्त तो हो सकते हो, पर तुम पूर्णतः निष्क्रिय और असर्जनक्षम ही होगे। प्राण की शक्ति के बिना शरीर बिलकुल पत्थर की तरह जड़ होगा। यदि प्राण को अलग छोड़ दिया जाय तो तुम कुछ भी चरितार्थ करने में समर्थ नहीं होगे। परंतु एक प्रचण्ड अश्व की तरह यह दुर्दम भी हो सकता है, अतएव इसपर अच्छा नियंत्रण रखने की जरूरत है। इस बल-वान् पशु को वश में रखने के लिये तुम्हें लगाम को कस कर पकड़ना और चाबुक तैयार रखना होगा। निश्चय ही, जब एक बार प्राण रूपांतर के लिये सहमत हो जाता है तो लगाम कसने या चाबुक तैयार रखने की जरूरत नहीं रहती: तुम मार्ग की प्रत्येक बाधा को अना-यास लांघते हुए लक्ष्य की ओर निर्विघ्न बढ़ते जाते हो। अन्यथा, प्राण या तो बाधाओं के सामने लड़खड़ा जायगा या उन्हें पार करने में भय खायगा। यह सोचने से कुछ लाभ नहीं कि यदि विघ्न-बाधाएं होतीं ही नहीं तो सब ठीक होता: वे खेल का भाग हैं और यदि तुम इहलोक के जीवन में उनका सामना करके उन्हें पार नहीं कर लेते तो अन्य स्तरों पर और दूसरे जीवनों में तुम्हें उनसे सैंकड़ों गुना बड़ी बाधाओं का अतिक्रमण करना होगा। सबसे अच्छा यह है कि तुम एकबारगी दृढ़ निश्चय कर लो और अपने प्राण को शिक्षित करो कि वह यहीं, जब तुम इस देह में हो, दौड़ लगाये और यथासंभव उसमें विजय लाभ करे। तुम्हारी विजय निश्चित ही है यदि तुम्हारा स्थूल मन अपने आप को सुधार कर प्राण के परिवर्तन में सहायता करे, यह नहीं कि वह एक ऐसे डाकू की तरह काम करे जो आक्रान्त व्यक्ति को धर दबाता है जब कि उसका साथी उसका धन-माल लूट लेता है।

मृत्यु के बाद तुम्हारी सत्ता की अवस्था बहुत कुछ इसपर निर्भर करती है कि क्या प्राण यहां परिवर्तित हो चुका है या नहीं। यदि तुम अव्यवस्थित आवेगों का मिश्रणमात्र हो, तो मरने पर, जब चेतना पृष्ठभूमि में चली जाती है, तुम्हारे अंदर के विभिन्न व्यक्तित्व अलग अलग हो जाते हैं, अपनी अपनी उपयुक्त परिस्थिति ढूंढ़ने के लिये इधर उधर दौड़ते हैं। एक भाग किसी दूसरे व्यक्ति के अंदर प्रवेश कर सकता है जिसमें उसके प्रति आकर्षण हो, कोई और भाग किसी पशु में भी घुस सकता है, जब कि जो भाग दिव्य उपस्थिति के प्रति जाग्रत् रहा है वह केंद्रीय चैत्य सत्ता से संबद्ध रह सकता है। परंतु यदि तुम एक अखण्ड व्यक्तित्व में पूर्णतः संगठित एवं परिवर्तित हो चुके हो और विकास के लक्ष्य पर पहुंचने के

लिये तुले हुए हो, तो तुम मृत्यु के बाद भी सचेतन रहोगे और जीवन की शृंखला को अविच्छिन्न रखोगे।

पुनर्जन्म के विषय में यह स्वीकार करना होगा कि कोई एक ही नियम सभी मनुष्यों पर लागू नहीं होता। कुछ लोग तो लगभग तुरंत ही पुनः जन्म ग्रहण कर लेते हैं—माता-पिताओं के साथ ऐसा प्रायः ही होता है कि उनका कोई अंश उनकी संतानों में आत्मसात् हो जाता है यदि उनकी संतानें उनमें अत्यधिक आसक्त हों। किंतु कुछ लोगों को दुबारा जन्म लेने में सैंकड़ों यहां तक कि सहस्रों वर्ष लग जाते हैं। वे उन आवश्यक अवस्थाओं के परिपक्व होने की प्रतीक्षा करते हैं जो उन्हें उपयुक्त परिस्थितियां प्रदान करेंगी। यदि कोई यौगिक रूप में सचेतन हो तो वह सचमुच ही अपने अगले जन्म का शरीर स्वयं तैयार कर सकता है। शरीर के जन्मने से पहले वह इसे रूप दे और गढ़ सकता है। तब वही इसका सच्चा निर्माता होता है जब कि नवजात शिशु के माता-पिता केवल सांयोगिक और निरे भौतिक माध्यम होते हैं।

यहां प्रसंगवश मुझे यह कह देना चाहिये कि पुनर्जन्म के विषय में लोगों में एक मिथ्या धारणा प्रचलित है। वे मानते हैं कि स्वयं वे ही फिर फिर जन्म लेते हैं। यह एक स्पष्ट भूल है। हां, यह ठीक है कि उनकी सत्ता के कुछ भाग दूसरे लोगों के साथ संमिश्रित हो जाते हैं और इस प्रकार नये शरीरों द्वारा कार्य करते हैं। पर उनकी सारी सत्ता फिर से पैदा नहीं होती। इसका सीधा सा कारण यह है कि जिसे वे प्रत्यक्षतः ही अपना 'स्व' समझते हैं वह उनकी वास्तविक व्यष्टिभूत सत्ता नहीं बल्कि बाह्य सत्ता है अर्थात् बाहरी नाम-रूप से बना हुआ व्यक्तित्व है। अतः यह कहना गलत है कि 'क' 'ख' के रूप में पुनः पैदा हुआ है : 'क' एक ऐसा व्यक्तित्व है जो अपने संगठन की दृष्टि से 'ख' से भिन्न है; इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'ख' के रूप में फिर से पैदा हुआ है। तुम्हारा कथन तभी ठीक होगा यदि तुम कहो कि चेतना की एक ही धारा 'क' और 'ख' दोनों को अपनी अभिव्यक्ति के यंत्रों के रूप में प्रयुक्त करती है। कारण, स्थिर रहनेवाली सत्ता तो चैत्य पुरुष ही है जो बाह्य व्यक्तित्व बिलकुल नहीं है बल्कि अन्तर की एक गहरी सत्ता है, ऐसी सत्ता जो बाह्य नाम-रूप नहीं है।

तुम जानना चाहते हो कि क्या शरीर के नाश के बाद सब लोगों का अपना अपना स्वरूप शेष रहता है। यह तो व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर करता है। जनसाधारण अपने शरीरों के साथ इतनी घनिष्ठता से एकाकार हुए रहते हैं कि जब शरीर विघटित होता है तो उनका कुछ शेष नहीं रहता। यह नहीं कि बिलकुल कुछ भी नहीं रहता—प्राणिक और मानसिक तत्त्व सदा ही रहता है पर वह भौतिक व्यक्तित्व से एकाकार नहीं होता। जो तत्त्व शेष रहता है उसे बाह्य व्यक्तित्व की स्पष्ट स्मृति नहीं होती क्योंकि बाह्य व्यक्तित्व आवेगों एवं कामनाओं का एक संकर और एक ऐसा अस्थायी संस्थान बना रहने में ही संतुष्ट था जो शारीरिक व्यापारों की संहति एवं समन्वय से निर्मित होता है। जब ये व्यापार बन्द होते हैं तो स्वभावतः ही इनकी मिथ्या एकता भी समाप्त हो जाती है। यदि विभिन्न अंगों पर मानसिक अनुशासन स्थापित किया गया हो और उन्हें एक ही मानसिक आदर्श के सहायक बना लिया गया हो, तभी किसी प्रकार के सच्चे व्यष्टि-भाव का अस्तित्व हो सकता है जो अपने पार्थिव जीवन की स्मृति सुरक्षित रख सकता है और इस प्रकार मृत्यु के बाद भी सचेतन रूप में जीवित रह सकता है। यह कहा जा सकता है कि कलाकार, दार्शनिक तथा अन्य विक-

सित व्यक्ति, जो अपनी प्राणिक सत्ता को संगठित एवं व्यक्तिभावापन्न और, कुछ अंश में, परिवर्तित कर चुके हैं, मृत्यु के बाद भी जीवित रहते हैं, क्योंकि वे अपनी बाह्य चेतना में उस चैत्य सत्ता की किंचित् छाया ले आते हैं जो अपने स्वरूप से ही अमर है और जिसका लक्ष्य हमारी सत्ता को उत्तरोत्तर केंद्रीय भागवत संकल्प के चारों ओर गठित करना है।

पुनरुत्थान

पुनरुत्थान (Resurrection) का, हमारे लिये, अर्थ है पुरानी चेतना का झड़ जाना। परंतु यह केवल एक पुनर्जन्म, एक अकस्मात् होनेवाला परिवर्तन नहीं है जो पहले की अवस्था से पूर्ण रूप से विच्छिन्न हो जाता है। इस पुनरुत्थान में एक प्रकार की क्रमधारा बनी रहती है, हमारे पुराने स्वरूप की अथवा हमारी निम्न बाह्य प्रकृति की मृत्यु और बिलकुल नए जीवन के आरंभ के बीच एक कड़ी बनी रहती है। पुनरुत्थान की अनुभूति के अंदर पुरानी सत्ता के त्याग की क्रिया के साथ साथ नवीन चेतना और नवीन शक्ति के जागने की क्रिया भी घनिष्ठ रूप से जुड़ी होती है जिससे जो कुछ फेंक दिया गया है, उसमें की सबसे उत्तम चीज, जो कुछ बाद में आया है उसके साथ एक नवीन सृष्टि के अंदर युक्त हो सके। पुनरुत्थान का वास्तविक अर्थ यह है कि भागवत चेतना उस अचेतनता में से जागृत होती है जिसमें वह नीचे उतरी है और अपने आपको खो चुकी है, भागवत चेतना मृत्यु, रात्रि और अंधकार के जगत् में अवतरित होने पर भी फिर से एक बार अपने विषय में सचेतन होती है। अंधकार का यह जगत् हमारी भौतिक रात्रि से भी कहीं अधिक काला है; अगर उसमें डुबकी लगाने के बाद तुम फिर ऊपर उठो तो तुम वास्तव में अत्यंत अभेद्य रात्रि को भी उज्ज्वल पाओगे, ठीक उसी तरह जिस तरह कि भागवत चेतना की वास्तविक ज्योति से, अंधकाररहित अतिमानसिक ज्योति से वापस आने पर तुम भौतिक सूर्य को काला अनुभव करोगे। परंतु उस महान् अंधकार की गहराई में परम ज्योति छिपी हुई है। उस ज्योति और उस चेतना को अपने अंदर जगने दो, अपना महान् पुनरुत्थान होने दो।

पुनर्जन्म–विगत जीवनों की स्मृति

पुनर्जन्म नाम से प्रसिद्ध समस्या को ठीक ठीक समझने के लिये तुम्हें यह देखना होगा कि इसमें दो तथ्य विचारणीय हैं। प्रथम, दिव्य चेतना की एक धारा है जो ऊपर से व्यक्त होना चाहती है और अभिव्यक्ति के क्षेत्ररूप इस विश्व में अपनी ही विशिष्ट रचनाओं की एक श्रृंखला को धारण करती है। दूसरे, एक आन्तरात्मिक चेतना है जो नीचे से आरोहण करती है, यह भगवान् का एक बीज है जो कालक्रम से तब तक विकसित होता रहता है जब तक कि ऊर्ध्व की शक्ति से संपर्क प्राप्त करके अतिमानसिक सत्य का प्रभाव ग्रहण नहीं कर लेता। यह अन्तरात्म-चेतना मनुष्य की अन्तःसत्ता है, यह वह तत्त्व है जिससे उसकी सच्ची आत्मा या जीव गढ़ा जा सकता है जब कि, इसकी अभीप्सा के उत्तर में, अतिमानस इसे सुसमंजस व्यक्तित्व प्रदान करने के लिये

अवतरित होता है। मनुष्य की बाह्य सत्ता मानसिक, प्राणिक एवं भौतिक विश्वप्रकृति के उपादान से निर्मित एक नश्वर रचना है और सब प्रकार की शक्तियों की जटिल पारस्परिक क्रिया के कारण उत्पन्न होती है। अन्तरात्मा ऐसी नाना रचनाओं के पीछे रहनेवाली सत्ता है और उनके अनुभवों के सार को मानों आत्मसात् कर लेती है। परंतु उनके साथ निरंतर संपर्क में न रहने से यह उन सारे जीवनों की, जिनका यह पृष्ठाधार है, स्मृति सुरक्षित नहीं रखती। अतएव केवल अन्तरात्मा से संबंध स्थापित करके मनुष्य उन सब अतीत जीवनों का स्मरण नहीं कर सकता। साधारणतः जिसे ऐसा स्मरण कहते हैं वह अधिकतर या तो आयोजित पाखंड होता है या अंतर से प्राप्त कुछ एक उद्वेलक संकेतों के द्वारा रचा हुआ कल्पनाजाल। बहुत से लोग दावा करते हैं कि उन्हें अपनी पशु-योनियां भी स्मरण हैं। वे कहते हैं कि वे एक अथवा किसी अन्य प्रकार के बंदर थे और संसार के इस या उस भाग में रहते थे। परन्तु यदि कोई चीज निश्चित है तो वह यही कि बंदर का अंतरात्म-चेतना से कुछ भी संपर्क नहीं है और इसलिये वह इसे अपने अनुभवों का एक कण भी नहीं पहुंचा सकता है। उसकी बाह्य वानर-प्रकृति के संस्कार उसके पशु-शरीर के ध्वंस के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। उनके ज्ञान का दावा करना विचाराधीन समस्या के वास्तव तथ्यों के विषय में अत्यंत स्थूल अज्ञान को प्रकट करना है। मनुष्य-जीवनों के संबंध में भी यह बात है कि जब अंतरात्मा सामने आ चुकती है तभी वह निश्चित स्मृतियां वहन करती और उन्हें सुरक्षित रखती है, पर निश्चय ही जीवन के सभी ब्योरों की नहीं, जब तक कि वह निरंतर आगे नहीं रहती और बाह्य सत्ता के साथ एक ही नहीं हो जाती। कारण, साधारणतः स्थूल मन और स्थूल प्राण देह-संस्थान की मृत्यु के साथ ही समाप्त हो जाते हैं: वे विघटित होकर विश्वप्रकृति में लौट जाते हैं और उनके अनुभवों का कुछ भी शेष नहीं रहता। जब तक वे अंतरात्मा से इस प्रकार एक नहीं हो जाते कि चेतना दो खण्डों में विभक्त न रहकर एक और अखण्ड बन जाय, संपूर्ण प्रकृति केंद्रीय भगवत्संकल्प के चारों ओर एकीभूत हो जाय और यह केंद्रीभूत सत्ता चेतना की ऊर्ध्व दिव्य धारा से संबद्ध हो जाय—जब तक ऐसा नहीं हो जाता तब तक मनुष्य उस चेतना की ज्ञान-संपदा प्राप्त नहीं कर सकता, न ही वह उन आकारों एवं जीवनों की संपूर्ण शृंखला से सचेतन हो सकता है जिन्हें उस चेतना ने अपनी वर्द्धनशील आत्म-अभिव्यक्ति के क्रमिक साधनों के रूप में धारण किया था। जब तक ऐसा नहीं हो जाता, तब तक किसी का 'अपने' अतीत जन्मों और उनकी नाना घटनाओं की चर्चा करना निरर्थक है। यह 'अपना आप' केवल वर्त्तमान एवं क्षणिक बाह्य प्रकृति का रूप है जिसका अन्य अनेक रूपों से कुछ भी संबंध नहीं है। परंतु सच्ची सत्ता, जिस प्रकार वह वर्त्तमान रचना के पीछे स्थित है वैसे ही, उन सबके पीछे भी स्थित रहती है। केवल अतिमानसिक चेतना ही इन जन्मों को इस प्रकार धारण करती है मानों ये एक अभिन्न सूत्र में पिरोये हुए हों और केवल वही इन सबका वास्तविक ज्ञान प्रदान कर सकती है।

चैत्य उपस्थिति और चैत्य पुरुष—जातीय उत्कृष्टता का वास्तविक उद्गम

ऊर्ध्वमुख विकास के प्रसंग में, चैत्य पुरुष की अपेक्षा चैत्य उपस्थिति का उल्लेख करना

ही अधिक ठीक है। कारण, चैत्य उपस्थिति ही क्रमशः चैत्य पुरुष बनती है। प्रत्येक विकसनशील वस्तु में यह उपस्थिति विद्यमान है, पर व्यष्टिभाव नहीं है। यह एक वर्द्धनक्षम सत्ता है और विकास की गति का अनुसरण करती है। यह ऊपर से होनेवाले निवर्त्तन की संतान नहीं है। यह भागवत चेतना के एक स्फुलिंग के चारों ओर उत्तरोत्तर गठित होती रहती है। उस स्फुलिंग का प्रयोजन एक ऐसी वृद्धिशील सत्ता का केंद्र बनना है जो पीछे, व्यष्टिभाव धारण कर लेने पर, चैत्य पुरुष बन जाती है। यह स्फुलिंग ही एक स्थायी तत्त्व है और यह व्यष्टि-भाव की रचना के लिये सब प्रकार के तत्त्व अपने चारों ओर एकत्र कर लेता है। सच्चे चैत्य पुरुष का निर्माण तो तभी होता है जब चैत्य व्यक्तित्व नित्य दिव्य स्फुलिंग के चारों ओर पूर्ण रूप से विकसित और गठित हो जाता है; यह अपनी पूर्णता एवं पूर्ण चरितार्थता तब प्राप्त करता है यदि और जब यह ऊपर से अवतीर्ण होनेवाले पुरुष या व्यक्तित्व से एक हो जाता है।

मानव स्तर के नीचे, साधारणतः, कोई व्यष्टि-रचना कदाचित् ही होती है—वहां केवल यह उपस्थिति ही कम या अधिक मात्रा में विद्यमान रहती है। परंतु जब भगवच्चेतना के स्फुलिंग के चारों ओर शरीर के विकास से भूतल पर मानवजाति का उदय हुआ, कुछ मानव संस्थानों ने इस वर्द्धनशील विकास के क्रम में पर्याप्त पूर्णता प्राप्त कर ली और अपने उद्घाटन एवं ग्रहणशीलता के द्वारा, ऊपर से अवतरित होनेवाली कुछ विशेष सत्ताओं को अपने साथ संबंध स्थापित करने दिया। इससे एक प्रकार की दिव्य मानवजाति का जन्म हुआ जिसे 'चुने हुओं'—वरपुत्रों—की जाति कह सकते हैं। यदि वे अलग रहते तो एक अनुपम और अतिमानव ज़ाति बने रहते। निःसंदेह अनेक जातियों ने दावा किया है कि हम वही जाति हैं। आर्यों, सैमिटिक लोगों और जापानियों—सभी ने अपने आपको एक दूसरे के बाद चुनी हुई जाति समझा है। परंतु वास्तव में सारी मानवजाति को समान धरातल पर लाने की चेष्टा भी होती रही है और जातियों का परस्पर-मिश्रण भी बहुत अधिक हुआ है। कारण, उत्कृष्ट जाति ने अपने को विस्तारित करने की आवश्यकता अनुभव की और इसने उसे शेष मानवजाति, अर्थात् पशुप्राय मानवजाति के साथ मिलने के लिये प्रेरित किया। इस प्रकार उसका मूल्य गिर गया और वह उस महान् पतन का शिकार बनी जिसका संसार के धर्मग्रंथों में वर्णन आता है—स्वर्ग से नीचे उतरना, सुवर्ण-युग का अंत। इसमें संदेह नहीं कि चेतना की दृष्टि से यह एक हानि थी, पर भौतिक शक्ति की दृष्टि से नहीं, क्योंकि जनसाधारण को इससे बड़ा भारी लाभ हुआ। अवश्य ही कुछ मनुष्य ऐसे भी थे जिनका मिश्रित न होने का संकल्प अत्यंत दृढ़ था। उन्होंने अपनी श्रेष्ठता को खोने के विरुद्ध रोष प्रकट किया। जात्यभिमान, जाति-श्रेष्ठता, जाति-बहिष्कार और भारत के ब्राह्मणों द्वारा पोषित वर्णगत उच्चता जैसी विशेषताओं का वास्तविक उद्गम यही है। परंतु वर्तमान समय में यह नहीं कहा जा सकता कि मानवजाति में कोई ऐसा भाग है जो निरा पाशविक है: सभी जातियों को ऊर्ध्व के अवतरण ने प्रभावित किया है, और व्यापक इतरेतरमिश्रण के कारण निवर्तन (involution) का परिणाम दूर दूर तक फैल गया है। निःसंदेह, हम यह नहीं कह सकते कि चैत्य पुरुष प्रत्येक मनुष्य में है, ठीक इसी प्रकार हम यह भी नहीं कह सकते कि यह किसी भी पशु में नहीं होता। बहुत से पशुओं में जो मनुष्य के पास रहे हैं इसकी कुछ झलक पाई जाती है, जब कि बहुधा हमारी ऐसे मनुष्यों से भेंट

हो जाती है जो पशुओं के अतिरिक्त कुछ नहीं प्रतीत होते। यहां भी धरातल का समीकरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। परंतु सर्वतोदृष्टचा, चैत्य का उदय सच्चे अर्थ में मानव स्तर पर ही होता है: यह भी एक कारण है जिससे कैथलिक संप्रदाय कहता है कि आत्मा केवल मनुष्य में है। केवल मनुष्य में ही इस बात की संभावना है कि उसका चैत्य पुरुष अपनी पूर्ण स्थिति तक विकसित हो सकता है, यहां तक कि अंत में वह ऊर्ध्व से अवतीर्ण होनेवाले पुरुष अथवा देवाधिदेव से मिलकर एकीभूत हो सकता है।

श्रद्धा

बाह्य-चेतनाजन्य बोध आंतरात्मिक बोध को अस्वीकार कर सकता है, तथापि, अंतरात्मा में सच्चा एवं सहजस्फुरित ज्ञान निहित है। अंतरात्मा कहती है, 'मैं जानती हूं; मैं युक्तियां नहीं दे सकती, पर मैं जानती हूं।' कारण, इसका ज्ञान मानसिक अनुभव पर आश्रित या प्रमाणों से सत्य सिद्ध किया हुआ नहीं होता। यह प्रमाण दिये जाने के बाद ही विश्वास करती हो ऐसी बात नहीं; अन्तरात्मा का ज्ञान सहजस्फुरित एवं प्रत्यक्ष होता है और अन्तरात्मा की ऐसी क्रिया को ही श्रद्धा कहते हैं। चाहे सारा संसार इन्कार कर दे और विरोध में सहस्रों प्रमाण प्रस्तुत करे, तो भी उसका ज्ञान एक ऐसा अन्तर्ज्ञान एवं साक्षात् प्रत्यक्ष होता है, जो उन सबका निराकरण कर सकता है। वह होता है तादात्म्य-लब्ध ज्ञान। अन्तरात्मा का ज्ञान एक मूर्त्त एवं गोचर वस्तु तथा ठोस पिण्ड होता है। तुम इसे अपने मन, अपने प्राण तथा अपने शरीर में भी ला सकते हो और तब तुममें पूर्ण श्रद्धा उदित होगी—ऐसी श्रद्धा जो सचमुच पहाड़ हिला सकती है। परंतु हमारी सत्ता के किसी भाग को अविश्वासी के रूप में प्रकट होकर यों नहीं कहना चाहिये, 'यह बात ऐसी नहीं है' और न उसे प्रमाण की मांग ही करनी चाहिये। जरा भी अधूरे विश्वास से तुम सब मामला बिगाड़ देते हो। यदि श्रद्धा पूर्ण एवं अटल न हो तो परम देव भला कैसे प्रकट हो सकते हैं। श्रद्धा अपने आप में सदा अविचल होती है—यह इसका निज स्वभाव ही है; क्योंकि अन्यथा इसे श्रद्धा कह ही नहीं सकते। परंतु, सम्भव है कि मन या प्राण या शरीर अन्तरात्मा की गति का अनुसरण न करें। यह हो सकता है कि किसी मनुष्य में एक योगी के पास जाकर सहसा ऐसी श्रद्धा पैदा हो कि यह व्यक्ति मुझे मेरे लक्ष्य पर पहुंचा देगा। उसे मालूम नहीं कि इस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त है या नहीं। उसे आंतरित्मक आवेग का अनुभव होता है और ऐसा जान पड़ता है कि उसे गुरु मिल गये हैं। वह बहुत देर मन में सोच-विचारकर या अनेक चमत्कार देख लेने पर ही विश्वास नहीं करता और केवल इसी कोटि की श्रद्धा ही उपयोगी होती है। यदि तुम तर्क-वितर्क शुरू कर दो तो सदैव अपनी भवितव्यता से हाथ धो बैठोगे। कुछ लोग यह सोचने बैठ जाते हैं कि आंतरात्मिक आवेग युक्तिसंगत है या नहीं।

लोगों के पथभ्रष्ट होने का कारण वास्तव में तथाकथित अन्धविश्वास नहीं होता। वे प्रायः कहते हैं, 'अहो, मैंने अमुक-अमुक व्यक्ति में विश्वास किया और उसने मुझे धोखा दिया।' परंतु सच पूछिये तो दोष उस व्यक्ति का नहीं, बल्कि विश्वास करनेवाले का होता है। उस

के अपने अन्दर ही कोई कमजोरी होती है। यदि वह अपना विश्वास अटूट बनाये रखता तो वह उस व्यक्ति को बदल देता। क्योंकि वह उसी श्रद्धामय चेतना में स्थिर नहीं रहा, अतएव उसने अपने को प्रवञ्चित अनुभव किया और उस व्यक्ति को वह जिस रूप में देखना चाहता था, उस रूप में नहीं देख पाया। यदि उसमें पूर्ण श्रद्धा होती तो वह उस व्यक्ति को बदलने के लिये बाध्य कर देता। श्रद्धा से ही सदा चमत्कारों की सृष्टि होती है। एक व्यक्ति किसी दूसरे के पास जाता है और वहां भागवत उपस्थिति का सम्पर्क प्राप्त करता है; यदि वह इस सम्पर्क को शुद्ध और सुरक्षित रख सके तो इससे भागवत चेतना अत्यंत जड़ भाग तक में प्रकट होने को बाध्य होगी। परंतु सब कुछ तुम्हारी अपनी आदर्श-मर्यादा एवं तुम्हारी अपनी सत्यता पर निर्भर है; जितना ही अधिक तुम आंतरात्मिक तौर पर तैयार होगे, उतना ही अधिक ठीक मार्ग तथा ठीक गुरु की प्राप्ति की दिशा में प्रेरित होगे। अंतरात्मा और उसकी श्रद्धा सच्ची होती है; पर यदि बाह्य सत्ता में छल-कपट है और यदि तुम आध्यात्मिक जीवन के बदले वैयक्तिक सिद्धियों की प्राप्ति का यत्न कर रहे हो तो यह चीज तुम्हें पथभ्रष्ट कर सकती है। तुम्हें भटकानेवाली चीज यही है, न कि तुम्हारी श्रद्धा। यह सम्भव है कि श्रद्धा, अपने आपमें शुद्ध होने पर भी, हमारी सत्ता में निम्न चेष्टाओं के योग से मिलावटी बन जाय; और जब ऐसा होता है, तभी तुम गलत रास्ते पर जा पड़ते हो।

युक्त वृत्ति का बल

जो कुछ भी होता है क्या वह सदा सचमुच सर्वोत्तम ही होता है? . . . यह स्पष्ट ही है कि जो कुछ भी हुआ है वह सब होना ही था : उससे विपरीत कुछ हो ही नहीं सकता था— वैश्व नियति के कारण उसका होना अनिवार्य ही था। परंतु ऐसा हम तभी कह सकते हैं जब वह हो चुकता है उससे पहले नहीं। कारण, अच्छे से अच्छा जो कुछ भी घटित हो सकता है उसकी समस्या व्यक्ति से संबंध रखती है, भले ही वह व्यक्ति एक राष्ट्र हो या एक मनुष्य; और अतएव सब कुछ व्यक्ति की वृत्ति पर निर्भर करता है। जो भी घटनाएं होनेवाली हैं उनकी उपस्थिति में यदि तुम सर्वोच्च संभव वृत्ति धारण कर सकते हो, अर्थात् यदि तुम उच्चतम उपलभ्य चेतना के साथ अपनी चेतना का संपर्क स्थापित कर लेते हो तो तुम यह पूर्ण रूप से निश्चित समझो कि उस दशा में तुम्हारे साथ सर्वोत्तम घटना ही घटित होगी। परंतु ज्यों ही तुम उस चेतना से निम्नतर अवस्था में उतर आते हो तो जो कुछ घटित हो सकता है वह, प्रत्यक्षतः ही, सर्वोत्तम नहीं होगा। इसका सीधा सा कारण यह है कि तुम अपनी उपलब्ध सर्वश्रेष्ठ चेतना में स्थित नहीं हो . . . इससे भी आगे बढ़कर मैं यहां तक कहती हूं कि प्रत्येक मनुष्य के निकटतम प्रभाव के क्षेत्र में, युक्त वृत्ति प्रत्येक घटना को केवल लाभदायक ही नहीं बना सकती बल्कि उसे पलट भी सकती है। उदाहरणार्थ, जब कोई आदमी तुम्हारा वध करने आता है, तब यदि तुम साधारण चेतना में रहो और भयभीत होकर होश-हवास खो बैठो, तो वह जिस काम के लिये आया था, बहुत संभवतः उसे करने में सफल हो जायगा; यदि तुम जरा ऊंचे उठ जाओ और चाहे भयग्रस्त दशा

के रहते भी भागवत सहायता के लिये पुकार करो, तो संभवतः उसका वार जरा चूक जायगा और वह तुम्हें मामूली सी चोट ही पहुंचा पायगा; परंतु यदि तुम्हारी वृत्ति युक्त हो और तुम अपने चारों ओर सर्वत्र दिव्य उपस्थिति को पूर्ण रूप से अनुभव कर सको तो वह तुम्हारे ऊपर उंगली भी नहीं उठा सकेगा।

यह सत्य रूपांतर की संपूर्ण समस्या की कुंजी है। सदा दिव्य उपस्थिति के संपर्क में रहो, उसे उतार लाने का यत्न करो–और तब सदा वही होगा जो अच्छे से अच्छा हो सकता है। निश्चय ही संसार एकदम नहीं बदल जायगा पर यह यथासंभव पूरे वेग से आगे बढ़ेगा। यह मत भूलो कि ऐसा तभी होता है यदि तुम योग के सीधे मार्ग पर आरूढ़ रहते हो, और तब नहीं जब तुम विचलित हो जाते हो, मार्ग खो बैठते हो और चंचल मन की मौज के अनुसार या लाचार होकर, मानों एक अज्ञात वन में, भटकते फिरते हो।

यदि तुममें से प्रत्येक अपनी शक्ति भर यत्न करे, तो यह एक उचित सहयोग की स्थिति होगी और इसके अनुसार ही सफलता भी शीघ्र प्राप्त होगी। युक्त वृत्ति के बल के मैंने कितने ही दृष्टांत देखे हैं। मैंने देखा है कि एक अकेले व्यक्ति के युक्त वृत्ति धारण करने से जनसमूह संकटों से बच गये हैं। परंतु यह कोई ऐसी वृत्ति नहीं होनी चाहिये जो कहीं बहुत ऊंचाई पर स्थित रहे और शरीर को अपनी साधारण प्रतिक्रियाएं करने के लिये स्वतंत्र छोड़ दे। यदि तुम इस तरह ऊंचे स्थित रहते हो और कहते हो, "ईश्वर की इच्छा पूरी हो", तब भी तुम्हारा वध हो सकता है। कारण, तुम्हारा शरीर सर्वथा अदिव्य और भय से कंपमान हो सकता है; असली बात है–स्वयं शरीर में सच्ची चेतना धारण करना, जरा भी भयभीत न होना और दिव्य शान्ति से परिपूर्ण रहना। तब सचमुच ही संकट की कोई संभावना नहीं रहती। यही नहीं कि मनुष्यों के आक्रमणों से बचा जा सकता है बल्कि पशुओं पर भी यहां तक कि पञ्च भूतों पर भी प्रभाव डाला जा सकता है। मैं तुम्हें एक छोटा सा दृष्टांत दे सकती हूं। उस भीषण तूफान की रात तुम्हें याद ही होगी। चारों ओर घनघोर शब्द और मूसलाधार वर्षा हो रही थी। मैंने सोचा, श्रीअरविन्द के कमरे में जाऊं और उन्हें खिड़कियां बन्द करने में सहायता दूं। मैंने उनके कमरे का दरवाजा खोला और देखा कि वे अपनी मेज पर शांत बैठे हैं और लिख रहे हैं। कमरे में ऐसी ठोस शांति थी कि किसी को स्वप्न में भी ख्याल नहीं आ सकता था कि बाहर तूफान चल रहा है। सब खिड़कियां पूरी खुली थीं, वर्षा की एक बूंद भी अंदर नहीं आ रही थी।

कल्पना की शक्ति

कल्पना वास्तव में मानसिक रचनाएं बनाने की शक्ति है। जब यह शक्ति भगवान् की सेवा में लगाई जाती है तो यह केवल रचनाएं ही नहीं बनाती अपितु सृजन भी करती है। तथापि, अवास्तविक रचना जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकृति मानसिक स्तर पर एक सत्य ही होती है। उदाहरणार्थ, एक उपन्यास का सारा कथानक मानसिक स्तर पर भौतिक स्तर से स्वतंत्र रूप में विद्यमान रहता है। हममेंसे हर एक कुछ हद तक उपन्यासकार है और उसमें मानसिक स्तर पर आकार बनाने की क्षमता है। वास्तव में

हमारे जीवन का बहुत सा भाग हमारी कल्पना-सृष्टि का ही मूर्त रूप है। प्रत्येक वार जब तुम किसी अस्वस्थ कल्पना में रस लेते हो, अपने भयों की रूपरेखा बनाते हो, दुर्घटनाओं और विपत्तियों की आशंका करते हो, तब तुम अपने भावी विनाश के लिये खाई खोदते हो। इसके विपरीत, तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक आशापूर्ण होगी, अपने लक्ष्य को पूरा करना तुम्हारे लिये उतना ही अधिक संभव होगा। कूए (coué) महोदय को इस शक्तिशाली सत्य का ज्ञान हो गया था और उन्होंने सैंकड़ों लोगों को केवल यह सिखाकर अच्छा कर दिया कि वे अपनी कष्टमुक्त स्थिति की कल्पना करें। एक वार उन्होंने एक स्त्री की घटना सुनाई जिसके बाल झड़ते जा रहे थे। उसने अपने को सुझाव (suggestion) देना शुरू किया कि मैं दिन पर दिन अच्छी हो रही हूं और मेरे बाल निश्चय ही बढ़ रहे हैं। लगातार ऐसी कल्पना करने से उसके बाल सचमुच बढ़ने लगे, यहां तक कि अधिक आत्म-प्रेरण (auto-suggestion) से स्पृहणीय हद तक लंबे हो गये। मानसिक रचनाएं बनाने की शक्ति योग में भी अत्यंत उपयोगी है। जब भगवत्संकल्प (Divine Will) के साथ मन का संपर्क स्थापित हो जाता है, अतिमानसिक सत्य मन और उच्चतम प्रकाश के मध्यवर्ती स्तरों के द्वारा अवतरित होने लगता है और यदि मनमें पहुंचकर यह उसके अंदर रचनाएं बनाने की शक्ति देखता है तो यह सहज ही मूर्त रूप धारण कर लेता है और तुम्हारे अंदर सर्जनशील शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अतएव मैं तुमसे कहती हूं कि कभी उदास और निराश मत होओ बल्कि ऐसा करो कि तुम्हारी कल्पना सदा आशापूर्ण, और उच्चतर सत्य के दबाव के प्रति सहर्ष नमनशील रहे, जिससे वह सत्य जब आये तो तुम्हें उन रचनाओं से परिपूर्ण पाये जो उसके सर्जनकारी प्रकाश को धारण करने के लिये आवश्यक हैं।

कल्पना एक चाकू के समान है जो अच्छे या बुरे कामों के लिये बरती जा सकती है। यदि तुम सदा इस विचार और भाव में निवास करो कि तुम्हारा रूपांतर होनेवाला है तो इससे तुम योग की प्रक्रिया में सहायक होगे। इसके विपरीत यदि तुम उदास हो जाते हो और यह रोना रोते हो कि तुम योग्य नहीं हो अथवा तुम उपलब्धि को आयत्त करने में असमर्थ हो, तो तुम अपनी सत्ता को विष से भरते हो। इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण सत्य को ध्यान में रखकर ही मैं यह कहते कभी नहीं थकती कि चाहे कुछ भी हो जाय तुम उदास कभी मत होओ। बल्कि इस अटूट आशा और विश्वास में निवास करो कि जो कार्य हम कर रहे हैं वह सफल होगा। दूसरे शब्दों में, श्रीअरविन्द में तुम्हारी श्रद्धा तुम्हारी कल्पना को निर्धारित करे। क्या ऐसी श्रद्धा में ही यह आशा और विश्वास उपस्थित नहीं हैं कि श्रीअरविन्द का संकल्प पूरा होकर रहेगा, कि उनके रूपांतर-कार्य का परिणाम परम विजय के सिवा और कुछ नहीं हो सकता और कि जिसे वे अतिमानसिक जगत् कहते हैं वह इसी भूतल पर अवतरित होगा तथा अभी और इसी जीवन में हममें चरितार्थ होगा।

निःस्वार्थ उत्प्रशंसा (admiration)

भगवान् को प्रकट करनेवाली किसी भी वस्तु को अंगीकार करने के लिये लोग इतने अनिच्छुक हैं कि प्रत्येक उच्च वस्तु में दोष निकालने, स्थूल छिद्र ढूंढने और इस प्रकार उसे

अपने धरातल पर ले आने को हर क्षण सतर्क रहते हैं। जब कोई वस्तु उन्हें अतिक्रांत कर जाती है तो बस वे क्रोध से भर उठते हैं, और जब वे उसकी बाह्य "त्रुटियां" ढूंढ़ निकालने में सफल हो जाते हैं तो फूले नहीं समाते। पर वे भूल जाते हैं कि यदि वे भगवान् से भी, जब भगवान् इस पृथ्वी पर उपस्थित हों, अपने स्थूल भौतिक मन के द्वारा भेंट करेंगे तो वे उनका भी कुछ स्थूल भाव ही अनुभव कर पायेंगे। जिस वस्तु को देखने के लिये वे स्वयं अयोग्य हैं या अनिच्छुक हैं उसे देख सकना उनके लिये संभव भी नहीं हो सकता। वे भगवान् को समझने में जरूर गलती करेंगे यदि वे उनके कार्यों के ऊपरी रूप ही देखेंगे, क्योंकि यह उनकी समझ में कभी नहीं आयगा कि जो मानवीय कर्म के समान प्रतीत होता है वह फिर भी उससे सर्वथा भिन्न हो सकता है और अमानवीय स्रोत से उद्भूत हो सकता है।

भगवान् भूतल पर कार्य करने के लिये प्रकट होकर, वैसे ही कार्य करते प्रतीत होते हैं जैसे मनुष्य, पर वास्तव में वे उसी तरह कार्य नहीं करते। प्रत्यक्ष और प्रतीयमान के ऐसे मानदण्डों से उनका मूल्य आंकना संभव नहीं। परंतु मनुष्य अपनी हीनता में नितांत आसक्त हैं और किसी उच्चतर सद्वस्तु के प्रति समर्पण करना या उसे अंगीकार करना उन्हें सहन ही नहीं हो सकता। छिद्र ढूंढ़ने की यह इच्छा, एक ऐसी चीज की नुकताचीनी करने और उसपर संदेह करने की द्वेषपूर्ण लालसा जिसके विषय में हमारे अंदर की कोई सत्ता हमें बताती है कि यह उच्चतर सद्वस्तु है, ठीक मानवीयता की ही छाप है। यह कोरी मानवीयता को ही प्रदर्शित करती है। इसके विपरीत, जहां कहीं किसी सत्य-शिव-सुंदर वस्तु के लिये सहज ही प्रशंसा का भाव फूट पड़ता है वहां कुछ दिव्यता प्रकाश में आ जाती है। जब तुम्हारा हृदय किसी ऐसी चीज की पूजा और प्रशंसा के लिये उछल पड़ता है जिसे तुम दिव्य उद्गम से उद्भूत अनुभव करते हो तब निश्चय ही तुम्हारी स्थूल चेतना तुम्हारे अंदर की चैत्य सत्ता या अन्तरात्मा के संपर्क में आ जाती है।

जिस क्षण तुम किसी ऐसी वस्तु के सामने उपस्थित होते हो, जिसे तुम दिव्य अनुभव करते हो, तुम्हारी आंखों में आनंद के आंसू उमड़ आते हैं। यह तो तुम्हारे अंदर का नीच प्राणी है जो यों सोचने लग पड़ता है : "हां, यह कोई महान् वस्तु है परंतु यह तभी प्रशंसा के योग्य होती यदि यह मेरे हिस्से में आती, यदि मैं इस गुण का सुखी स्वामी और इस श्रेष्ठ अभिव्यक्ति का यन्त्र होता।" तुम्हें अपनी मैं की चिंता क्यों लगी है जब कि मुख्य प्रयोजन यह है कि भगवान् जहां कहीं और जिस किसी भी ढंग से प्रकट होना चाहते हैं, प्रकट होवें ? वे जिस प्रकार भी प्रकट हों, तुम्हें अपने को कृतार्थ अनुभव करना चाहिये, तुम्हें अपने दयनीय व्यक्तित्व के संकीर्ण बंधनों को तोड़कर निःस्वार्थ आनंद में ऊंचे उठ सकना चाहिये। यह आनंद इस बात का सच्चा चिह्न होता है कि तुम्हारी आत्मा जाग गयी है और उसे सत्य का अनुभव हुआ है। तभी तुम अवतीर्ण हो रहे सत्य के प्रभाव की ओर खुल सकते हो और वह तुम्हें नया रूप दे सकता है। मुझे उन अवसरों की याद आती है जब बालकों को यहां तक कि शिशुओं को कोई ऐसा काम करते देखकर, जो अत्यंत दिव्यतया सुंदर और सरल होता था, मेरी आंखों में आंसू छलक आते थे। उस आनंद को अनुभव करो और तब तुम अपने बीच भगवान् की उपस्थिति से लाभ उठा सकोगे।

पीछे हटना

प्रायः तुम सभी अपनी सत्ता के ऊपरी तल पर निवास करते हो और बाहरी प्रभावों के संस्पर्श के लिये खुले रहते हो। तुम मानों अपने शरीर से एकदम बाहर निकले हुए, फैले हुए रहते हो और जब उसी तरह बाहर की ओर फैले हुए किसी दूसरे अप्रिय प्राणी से मिलते हो तब घबड़ा जाते हो। सारी कठिनाई इस कारण पैदा होती है कि तुम पीछे हटने के आदी नहीं हो सके हो, तुम्हें सदा अपने अंदर हट आना चाहिये—अंतर की गहराई में पैठ जाना सीखना चाहिये; तुम पीछे हटो और तुम सुरक्षित अवस्था में पहुंच जाओगे। बाहरी जगत् में विचरनेवाली बाहरी शक्तियों के हाथ में अपने आपको मत सौंप दो। अगर तुम्हें कुछ करने की शीघ्रता हो तो भी एक मुहूर्त्त के लिये पीछे हट जाओ और तुम यह देखकर आश्चर्य करोगे कि कितनी अधिक शीघ्रता से और कितनी अधिक सफलता के साथ तुम्हारा कार्य संपादित हो जाता है। अगर कोई तुमपर क्रोधित हो तो तुम उसके द्वारा सृष्ट प्रकंपनों में मत बंध जाओ, बल्कि सहज पीछे हट जाओ और उसका क्रोध कोई सहारा या प्रत्युत्तर न पाकर समाप्त हो जायगा। बराबर अपनी शांति को बनाये रखो, उसे खोने के लिये जितने भी प्रलोभन सामने आवें उनका विरोध करो। बिना पीछे हटे कभी किसी बात का निर्णय मत करो, बिना पीछे हटे कभी एक शब्द भी मुंह से न निकालो, बिना पीछे हटे कभी अपने आपको किसी कार्य में मत झोंको। जो कुछ साधारण जगत् से संबद्ध है वह सबका सब अस्थायी और नाशवान् है, अतएव इस संसार में ऐसी कोई चीज नहीं जिससे वास्तव में विक्षुब्ध हुआ जाय। जो कुछ स्थायी, सनातन, अमर और अनंत है वही वास्तव में प्राप्त करने योग्य, जीतने योग्य, अधिकृत करने योग्य है। यह है भागवत ज्योति, भागवत प्रेम, भागवत जीवन—साथ ही यह है परम शांति, पूर्ण आनंद और पृथ्वी पर व्यापक स्वामित्व-भाव तथा संपूर्ण अभिव्यक्ति भी। जब तुम्हें चीजों की सापेक्षता का बोध हो जायगा तब तुम सब अवस्थाओं में पीछे हट सकोगे और वहां से देख सकोगे और धीर-स्थिर रह सकोगे और भागवत शक्ति को पुकार सकोगे और उत्तर की प्रतीक्षा कर सकोगे। उस समय तुम यह ठीक ठीक जान सकोगे कि क्या करना चाहिये। अतएव याद रखो कि जब तक तुम खूब शांति से भरपूर नहीं हो जाते तब तक तुम उत्तर नहीं पा सकते। इस आंतर शांति का अभ्यास करो, कम से कम इसके लिये एक मामूली आरंभ ही करो और तब तक अपना अभ्यास जारी रखो जब तक यह तुम्हारा स्व-भाव ही नहीं बन जाती।

वैज्ञानिक और योगी का ज्ञान

साधारण चेतना का शिखर विज्ञान (Science) है। विज्ञान के लिये, भूतल पर जो कुछ भी है वह सत्य है केवल इस कारण कि उसका अस्तित्व है। जिसे यह प्रकृति कहता है वह इसके लिये अन्तिम सद्वस्तु है और इसका लक्ष्य है—उसके कार्य-व्यापार की व्याख्या के लिये सिद्धांत की रचना करना। अतएव यह स्थूल मन की पहुंच के अंदर अधिकतम ऊंचाई तक जाता है और इस तथ्यात्मक जगत् के, जिसे यह सत्य मान लेता है, कारणों को खोजने

का यत्न करता है। परंतु वास्तव में वह "कारणों" को "कार्यों" के अनुकूल घड़ता है, क्योंकि जो कुछ भी 'है' उसे तो इसने पहले से ही सच्चा एवं वास्तविक मान लिया है और केवल उसकी मानसिक व्याख्या करने का ही यत्न करता है। परंतु यौगिक चेतना के लिये यह संसार सद्वस्तु नहीं है। मन से ऊपर अधिमानस में और फिर अतिमानस में उठकर, यह अंतिम मूल सत्यों के दिव्य लोक में प्रवेश करती है और वहां से नीचे दृष्टि डालकर देखती है कि उन सत्यों की यहां क्या दशा हो गई है। कैसे विकृत हो गये हैं वे, कैसे पूर्णतया मिथ्याकृत ! इस प्रकार तथाकथित तथ्यात्मक जगत् योगी के लिये अतथ्य है और किसी प्रकार भी एक-मात्र सत्य सद्वस्तु नहीं है। यह वैसा नहीं है जैसा होना चाहिये, यह लगभग ठीक उलटा ही है; जब कि वैज्ञानिक के लिये यह सर्वथा आधारभूत तथ्य है।

हमारा लक्ष्य वस्तुओं को बदलना है। वैज्ञानिक कहता है कि जो कुछ भी है वह स्वाभाविक है और वह मूलतः नहीं बदला जा सकता। परंतु वास्तव में देखा जाय तो जिन नियमों की वह प्रायः ही बात करता है वे उसके अपने मन के बनाये हुए हैं; और क्योंकि प्रकृति जैसी भी है उसी को वह अपना असली आधार मानता है, यह जगत् उसके लिये किसी रूप में भी मूलतः परिवर्तित नहीं होता और न हो ही सकता है। परंतु, हमारे मत के अनुसार, यह सब कुछ बदला जा सकता है, क्योंकि हम जानते हैं कि एक ऊर्ध्वस्थित सत्ता भी है, एक दिव्य सत्य भी है जो अभिव्यक्ति के लिये यत्न कर रहा है। यहां स्थिर नियम कोई नहीं हैं; अपने आग्रहरहित क्षणों में विज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि नियम निरी मानसिक रचनाएं हैं। असल में तो यहां घटनाएं ही घटनाएं हैं, और यदि मन सभी स्थितियों का निरीक्षण कर सके तो इसे पता चलेगा कि कोई भी दो घटनाएं एक सी नहीं हैं। नियम तो मन की सुविधा के लिये हैं, परंतु अतिमानसिक अभिव्यक्ति की प्रक्रिया कुछ और ही है, हम यहां तक कह सकते हैं कि यह मन की प्रक्रिया से बिलकुल उलटी है। अतिमानस के चरितार्थ हो जाने पर प्रत्येक वस्तु अपने अंदर एक सत्य धारण किये रहेगी जो भूत या भावी घटनाओं से न बंधकर प्रतिक्षण अपने को अभिव्यक्त करेगा। भूत और वर्तमान का वह ब्योरेपूर्ण संबंध, जो प्रकृति की घटनाओं को ऐसा अपरिवर्तनीय नियति का रूप दे देता है, चिन्तन करने का निरा मानसिक ढंग है और उससे यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि जो कुछ भी है वह अटल है और परिवर्त्तित नहीं हो सकता।

योगी द्वारा प्राप्त ज्ञान इस भयानक सिद्धांत का भी उत्तर दे देता है कि जो कुछ भी होता है वह सीधा ईश्वर का कार्य है। कारण, एक बार जब तुम अतिमानस के स्तर में आरोहण करते हो तो तुम्हें तुरंत ज्ञात हो जाता है कि यह संसार मिथ्या और विकृत है। अतिमानसिक सत्य तो अभी व्यक्त ही नहीं हुआ है। तब भला यह संसार भगवान् का सच्चा प्राकट्य कैसे हो सकता है? जब अतिमानस यहां प्रतिष्ठित हो जायगा और शासन करने लगेगा तभी, केवल तभी यह कहा जा सकेगा कि परम इच्छा सच्चे रूप में प्रकट हो गई है। परंतु, उच्चतर चेतना में आरोहण कर चुके लोगों को 'जगन्मिथ्या' की जो अनुभूति होती है उसकी भयंकर अतिरंजना का भी हमें पूर्ण रूप से त्याग करना होगा। शंकर और उन जैसे अन्यों के साथ जो हुआ वह यह कि उन्हें सत्य चेतना की एक झांकी प्राप्त हुई और उस झांकी ने इस जगत् के मिथ्यात्व को ऐसे तीव्र विरोध में ला खड़ा किया कि उन्होंने इस संसार को केवल मिथ्या ही नहीं बल्कि एक ऐसी माया घोषित कर डाला जिसकी कोई

वास्तविक सत्ता नहीं है और जिसका पूर्णरूपेण त्याग कर देना चाहिये। इसके विपरीत, हम इसका मिथ्यात्व तो देखते हैं पर हमें यह अनुभूति भी होती है कि इसे भ्रम मानकर त्याग नहीं देना है बल्कि इसके स्थान पर एक नये जगत् की प्रतिष्ठा करनी है। हां इतना अवश्य है कि सत्य का मिथ्या रूपांतर हो गया है, किसी चीज ने बीच में घुसकर दिव्य सद्वस्तु को विकृत कर डाला है, पर वास्तव में यह संसार उसे प्रकट करने के लिये ही बनाया गया है। उसे प्रकट करना ही हमारे योग का प्रयोजन है।

आकस्मिकता

"आकस्मिकता" शब्द से हम क्या समझते हैं? आकस्मिकता व्यवस्था और सामंजस्य का उलट ही हो सकती है। सच्चा सामंजस्य तो केवल एक ही है और वह अतिमानसिक है—सत्य का राज्य एवं दिव्य विधान का प्राकट्य। अतएव अतिमानस में आकस्मिकता का कोई स्थान नहीं। परंतु निम्नतर प्रकृति में वह परम सत्य आच्छादित हो गया है: अतएव यहां उद्देश्य और कर्म की उस दिव्य एकता का अभाव है जिसके द्वारा ही व्यवस्था और सामंजस्य का निर्माण हो सकता है। इस एकता के न होने से, निम्नतर प्रकृति का क्षेत्र उस चीज के द्वारा शासित है जिसे हम आकस्मिकता कह सकते हैं—अर्थात्, यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें ऐसी नाना प्रकार की विरोधी शक्तियां एक दूसरे से टकराती हैं जिनका कोई एक ही निश्चित लक्ष्य नहीं होता। इस प्रकार जो वे एक साथ वेगपूर्वक गति कर रही हैं उसके फलस्वरूप जो कुछ भी उत्पन्न होता है वह अव्यवस्था, असामंजस्य और असत्य का परिणाम अर्थात् आकस्मिकता का फल होता है। आकस्मिकता केवल एक ऐसा विचार ही नहीं है जो कार्यरत कारणों के विषय में हमारे अज्ञान को ढकने के लिये कल्पित किया गया है; यह निम्नतर प्रकृति के उस अनिश्चित द्वन्द्व का वर्णन भी है जिसमें दिव्य सत्य की शांत एक-लक्ष्यता का अभाव है। संसार अपने दिव्य उद्भव को भूलकर अहंभावमय शक्तियों का अखाड़ा बन गया है। परंतु अभी भी यह सत्य की ओर खुल सकता है और अपनी अभीप्सा के द्वारा उसका आवाहन करके आकस्मिकता के भंवर में परिवर्तन ला सकता है। अपने मानसिक संस्कारों, अनुभवों एवं सिद्धांतों के कारण जिसे मनुष्य एक यांत्रिक घटनाक्रम मानते हैं वह वास्तव में उन सूक्ष्म शक्तियों द्वारा संचालित होता है जिनमें से हर एक अपनी इच्छा पूरी कराने का यत्न करती है। यह संसार इन अदिव्य करणों के ऐसा वश में हो गया है कि सत्य की विजय उसके लिये संग्राम किये बिना प्राप्त ही नहीं की जा सकती। सत्य पर इसका कोई अधिकार नहीं है: उसकी प्राप्ति तो इसे उस असत्य एवं विकृति को तिलांजलि देकर ही करनी होगी जिसका एक मुख्य भाग यह सहल विचार है कि क्योंकि सभी वस्तुओं का अंतिम उद्गम भगवान् हैं, उनकी सभी तात्कालिक क्रियाएं भी सीधी उन्हीं से उद्भूत होती हैं। तथ्य यह है कि यहां निम्नतर प्रकृति में भगवान् वैश्व अज्ञान द्वारा आच्छादित हैं और जो कुछ होता है वह सीधा दिव्य ज्ञान से ही निःसृत नहीं होता। प्रत्येक चीज समान रूप से ईश्वर की इच्छा का परिणाम है यह विरोधी प्रभावों का ही एक अत्यंत स्वार्थानुकूल सुझाव है। वे तो चाहते ही हैं कि यह सृष्टि उन अव्यवस्था एवं कुरूपता के साथ

यथाशक्य दृढ़ता से चिपटी रहे जिनमें यह परिणत कर दी गयी है। तो करना क्या चाहिये, तुम पूछते हो ? हां, प्रकाश का आवाहन करो, रूपांतर की शक्ति की ओर अपने को खोल डालो। कितनी ही बार तुम्हें दिव्य शांति प्रदान की गयी है और उतनी ही बार तुमने उसे खो दिया है—क्योंकि तुम्हारे अंदर की कोई चीज अपने तुच्छ अहंपूर्ण ढर्रे का समर्पण करने से इन्कार करती है। यदि तुम सदा सजग नहीं रहोगे तो तुम्हारी प्रकृति अवतरित हो रहे सत्य से परिपूरित होने के बाद भी फिर से अपने पुराने असंस्कृत अभ्यासों में जा पड़ेगी। पुरातन और नूतन में संघर्ष ही योग की पहेली है। परंतु यदि तुम अपने समक्ष प्रकाशित परम विधान एवं व्यवस्था के प्रति सत्यनिष्ठ रहने के लिये तुले हुए हो तो, तुम्हारी सत्ता के वे भाग भी जो आकस्मिकता के क्षेत्र से संबद्ध हैं, कितनी भी धीमे धीमे हों, परिवर्तित और दिव्य हो जायंगे।

देश और काल के विभिन्न प्रकार—प्राणिक स्तर पर निर्भयता

देश और काल मानसिक चेतना से ही आरंभ होते हों और इसीमें समाप्त हो जाते हों ऐसी बात नहीं : इनका अस्तित्व अधिमानस में भी है। ये संपूर्ण वैश्व सत्ता के रूप हैं : हां, प्रत्येक स्तर पर इनका रूप भिन्न भिन्न है। प्रत्येक लोक का अपना अपना देश और अपना अपना काल है।

इस प्रकार मानसिक देश और काल उस देश और काल के साथ मेल नहीं खाते जिन्हें हम यहां इस जड़ जगत् में देखते हैं। मन के लोक में हम अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार आगे-पीछे गति कर सकते हैं। ज्यों ही तुम्हें किसी व्यक्ति का विचार आता है, वह तुम्हें प्राप्त हो जाता है; और चाहे तुम किसी व्यक्ति के कितना भी निकट क्यों न हो, फिर भी तुम उससे बहुत दूर हो सकते हो यदि तुम्हारे विचार किसी और में लगे हुए हैं। यह गति तात्क्षणिक होती है, क्योंकि वहां की देश-कालिक अवस्थाएं इतनी अधिक स्वतंत्र हैं। परंतु प्राणिक जगत् में तुम्हें अपने संकल्प का प्रयोग करना पड़ता है : वहां भी दूरी कम कठोर है, पर गति तात्क्षणिक नहीं है : संकल्प का प्रयोग करना ही होता है।

भिन्न भिन्न प्रकार के देश-कालों का ज्ञान योग में क्रियात्मक रूप से अत्यंत उपयोगी हो सकता है, क्योंकि तुम्हारी कितनी ही भूलों का कारण केवल यही होता है कि अपने प्राणिक और मानसिक शरीरों में तुम ठीक ढंग से क्रिया करने में असमर्थ होते हो। उदाहरणार्थ, तुम्हें याद रखना होगा कि स्वप्नों में तुम प्राणिक लोक के देश-काल में होते हो और वहां तुम्हें इस प्रकार कार्य करने का यत्न नहीं करना चाहिये मानों तुम अभी अपने स्थूल शरीर में ही हो। यदि तुम्हें वहां की वस्तुस्थिति का आवश्यक ज्ञान है तो तुम उन प्राणिक सत्ताओं का अत्यधिक सफलतापूर्वक प्रतिकार कर सकते हो जो तुम्हें डराती और ऐसे अप्रिय दुःस्वप्न लाती हैं। प्राणिक देश और काल में होनेवाली क्रिया की एक विशेषता यह है कि ये सत्ताएं अपनी इच्छानुसार विशाल रूप धारण करके तुम्हारे अंदर भय का एक ऐसा कंपन पैदा कर सकती हैं जो तुमपर आक्रमण करने और अधिकार जमाने के लिये उनका एक अत्यंत शक्तिशाली साधन है। भयजनक भ्रम पैदा करने की उनकी

शक्ति को ध्यान में रखते हुए तुम्हें समस्त भय बाहर निकाल फेंकना होगा। एक बार जब तुम साहस के साथ और डटकर उनका सामना करते हो, मानों उन्हें घूरकर देख ही लेते हो, उनकी तीन-चौथाई शक्ति तो उसी क्षण समाप्त हो जाती है। और यदि तुम सहायता के लिये हमारा आह्वान करो तो अंतिम चौथाई भी जाती रहती है और वे भाग खड़ी होती हैं या नष्ट हो जाती हैं। मेरे एक मित्र ने जो अपने प्राणिक शरीर में चला जाया करता था एक बार शिकायत की कि सदैव एक भयानक शेर मेरे सामने आता है जो मेरी रात को अत्यंत कष्टपूर्ण बना देता है। मैंने उससे कहा कि तुम सब भय निकाल फेंको और सीधा उस पशु की ओर चले जाओ, उसे घूर कर देखो और यदि आवश्यकता हो तो बेशक सहायता के लिये पुकार भी करो। उसने ऐसा ही किया और फिर क्या था वह सिंह सहसा एक मामूली बिल्ली ही तो बन गया!

किसी प्राणिक सत्ता के सामने निर्भयतापूर्वक घूरकर देखने का जो चमत्कारक-सा प्रभाव होता है उसका तुम्हें कुछ भी पता नहीं है। इस संसार में भी यदि तुम प्राणिक शक्तियों के उन सब साकार रूपों के साथ, जिन्हें हम साधारणतः पशु कहते हैं, इसी प्रकार व्यवहार करो तो तुम अवश्य ही आसानी से उन्हें वश में कर लोगे। एक भौतिक सिंह भी तुम्हें देखकर भाग जायगा यदि जरा भी भयभीत हुए बिना तुम उससे आंख मिला लो। सांप तुम्हें कभी काट ही नहीं सकेगा यदि तुम लेशमात्र भी भय अनुभव किये बिना उसकी दृष्टि में दृष्टि गड़ा सको। केवल कांपते घुटनों के साथ उसे देखने से तो कुछ नहीं बनेगा। तुम्हारे अंदर जरा भी व्याकुलता नहीं होनी चाहिये: तुम्हें शांत और समाहृत रहना चाहिये जब तुम उससे आंख मिलाओ और वह तुम्हें तुच्छ भय से विमोहित करने के लिये अपना फण हिला रहा हो। पशुओं को पता है कि मनुष्य की आंखों में एक ऐसा प्रकाश है जिसे वे सह नहीं सकते यदि वह उनकी ओर ठीक ढंग से डाला जाय। मनुष्य की दृष्टि में, यदि वह स्थिर और निर्भय हो, एक ऐसी शक्ति है जो उन्हें पराभूत कर देती है।

अतएव, संक्षेप में, दो बातें स्मरण रखो: कभी मत डरो, कभी भी मत डरो, और सभी परिस्थितियों में यथार्थ सहायता के लिये पुकार करो। इससे तुम्हारी सामर्थ्य सैंकड़ों गुना बढ़ जायगी।

भगवान् से तादात्म्य द्वारा ज्ञान-प्राप्ति
तथा
जगत् में भागवत संकल्प का स्वरूप

चेतना उस शक्ति को कहते हैं जिससे हम किसी पदार्थ के साथ एक होकर उससे सचेतन होते हैं। परंतु भगवान् की चेतना केवल सचेतन ही नहीं होती बल्कि ज्ञान प्राप्त करती और उसे कार्यान्वित करती है। क्योंकि, केवल सचेतन होने का ही नाम ज्ञान नहीं है। उदाहरणतः, किसी स्पंदन से सचेतन होने का यह मतलब नहीं कि तुम उसके विषय में सब कुछ

जान जाते हो। जब हमारी चेतना भगवान् की चेतना में भाग लेती है तभी वह अपने विषय से एकाकार होकर पूर्ण ज्ञान लाभ करती है। साधारणतः ज्ञान से बढ़कर कहीं अधिक अज्ञान ही एकाकारता का फल होता है, कारण चेतना जिस चीज से तद्रूप होती है उसी में खो जाती है और यथार्थ मूल कारणों, सहकारी कारणों तथा परिणामों का साक्षात् करने में असमर्थ रहती है। इस प्रकार तुम अपने को क्रोध की चेष्टा से तदाकार कर लेते हो और तुम्हारा सारा व्यक्तित्व क्रोध में आग बबूला, अंधा और उतावला हो जाता है, उसे और किसी चीज की सुधबुध नहीं रहती। जब तुम प्रचंड उथलपुथल के समय भी पीछे की ओर, अपने अंदर स्थित होकर अनासक्त रहते हो तभी तुम ज्ञानचक्षु से वह उथलपुथल देखने में समर्थ होते हो। इसलिये साधारण मानवीय अवस्था में ज्ञान प्राप्त करने का ठीक तरीका यह है कि हम कोई दृश्य विषय वा वस्तु देखने के लिये तद्रूप न होकर उससे पीछे हटकर स्थित हों। परंतु भगवान् की चेतना अपने को अपने विषय से तदाकार कर लेती है और इस प्रकार उसे पूर्ण रूप से जान लेती है, क्योंकि वह सदा प्रत्येक वस्तु वा घटना आदि के अंतर्निहित मूल सत्य या विधान के साथ एकमय हो जाती है। वह केवल ज्ञान ही प्राप्त नहीं करती, बल्कि ज्ञान प्राप्त करके, जो कुछ वह चाहती है वही संपादित भी करती है। उसके लिये सचेतन होने का अर्थ ही है कार्यक्षम होना—क्योंकि उसकी प्रत्येक गति सर्वशक्ति-मत्ता की एक किरण होती है जो उसका पथ प्रकाशित करने के अतिरिक्त उसकी सत्यप्रकृति द्वारा निर्दिष्ट लक्ष्य को पूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिये उसका मार्ग प्रशस्त कर देती है।

तुम्हारी साधारण चेतना अचेतना से बहुत अधिक मिश्रित होती है—यह टटोलती है, जोर मारती है और हारकर बैठ जाती है, जब कि परम पुरुष से एकत्व होने पर तुम परम प्रकृति में भागी होते हो और जब कभी तुम कोई पदार्थ देखने में प्रवृत्त होते हो और अपने आपको उससे तन्मय कर लेते हो तो तुम पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हो। निःसंदेह, यह आवश्यक नहीं कि इससे तुम भगवान् की चेतना के सबके सब तत्त्व धारण कर लो। तुम्हारी चेष्टाएं सत्यमय हो जाती हैं, परंतु भगवान् की क्रियाशीलता का अशेष विपुल ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त नहीं हो जाता। तो भी, तुम अपने क्षेत्र के भीतर वस्तुओं के सत्य के अनुसार यथावत् देखने में समर्थ होते हो,—और तुम्हारा यह क्षेत्र उससे निश्चय ही अधिक महान् होता है जिसे योग की परिभाषा में तादात्म्यलब्ध ज्ञान कहते हैं। कारण, अनेक योगसाधनाओं में जिस प्रकार के तादात्म्य का अभ्यास कराया जाता है वह तुम्हारे प्रत्यक्षबोध की सीमाएं तो विस्तृत कर देता है पर वस्तु के अंतस्तल में प्रवेश नहीं कर पाता, मानों वह वस्तु को उसके भीतर से तो देखता है पर देखता है उसके गोचर रूप को ही। उदाहरण के तौर पर, यदि तुम अपने आपको किसी वृक्ष से तदाकार कर लेते हो तो तुम उससे उसी रूप में अभिज्ञ हो जाते हो जिस रूप में वह अपने आपसे अभिज्ञ है, किंतु तुम वृक्ष के संबंध में हर एक चीज नहीं जान लेते; इसका सीधा सा कारण यह है कि ऐसा ज्ञान तो स्वयं उसे भी प्राप्त नहीं है। तुम वृक्ष के अंतः-संवेदन में सहभागी अवश्य होते हो, परंतु निश्चय ही तुम वह सत्य नहीं जानते जिसका वह प्रतिनिधि है, जैसे, तुम अपनी निजी प्राकृत सत्ता से सचेतन होकर तुरंत ही अपना वह दिव्य सत्स्वरूप प्राप्त नहीं कर लेते जो तुम्हारा गुप्त स्वरूप है। पर यदि तुम भगवान् की चेतना से एकत्व स्थापित कर लो तो,—वृक्ष को जिस प्रकार की अनुभूति होती है उसके अतिरिक्त—तुम यह भी जान जाते हो कि वृक्ष के मूल में कौनसा सत्य निहित है। संक्षेप में,

तुम उसके विषय में प्रत्येक बात जान जाते हो, क्योंकि भगवान् की चेतना प्रत्येक बात जानती है।

अवश्य ही, इस एकत्व की उपलब्धि के अनेक साधन हैं। यह अभीप्सा, या समर्पण, या अन्य किसी विधि से प्राप्त हो सकता है। इनमेंसे चाहे जिस विधि का तुम दृढ़ता और सच्चाई से अनुसरण करो वह तुम्हें लक्ष्य तक पहुंचा देगी। भगवत्प्राप्ति के दृढ़ संकल्प के मूल में तुम्हारी संपूर्ण प्रकृति की जो प्रबल प्रेरणा होती है उसे ही अभीप्सा कहते हैं। दूसरी ओर समर्पण का ठीक ठीक अर्थ यह है कि तुम अपने अहंकार की सीमाओं का त्याग कर दो। भगवान् को समर्पण करने का तात्पर्य यही है कि तुम अपनी तंग चौहद्दियों से निकल-कर भगवान् के अधिकार में आ जाओ और उसकी लीला के क्षेत्र बन जाओ। परंतु तुम्हें यह ध्यान में रखना होगा कि जो विश्व-चेतना योगियों को इतनी प्रिय है वही स्वयं भगवान् नहीं है। तुम चाहो तो अपनी सीमाएं तोड़कर उन्हें दूरातिदूर क्षितिज तक विस्तृत कर सकते हो, परंतु यदि तुम विशालता और वैश्व बहुत्व की भावना को ही भगवान् समझो तो तुम भारी भूल करोगे। वैश्व गति तो मिथ्या और सत्य का मिश्रण है, इसलिये वहां रुक जाना अपूर्ण ही बने रहना है। कारण, यह खूब संभव है कि तुम विश्वचेतना के सहभागी बन जाओ किंतु परात्पर सत्य जरा भी न प्राप्त करो। इसके विपरीत, भगवान् की शरण में जाने का मतलब यह है कि तुम वैश्व उपलब्धि को आयत्त करके भी मिथ्या से मुक्त रहते हो।

विश्वात्मा तथा परात्पर आत्मा के प्रति आत्मसमर्पण करने में वास्तविक बाधा है-व्यक्ति का अपनी निजी सीमाओं से प्रेम। यह प्रेम स्वाभाविक ही है, क्योंकि वैयक्तिक सत्ता की निज गठन में ही यह प्रवृत्ति निहित है कि वह अपना सारा ध्यान सीमाएं बनाने में ही लगाती है। इसके बिना पृथक्त्व की भावना का अस्तित्व ही नहीं होगा—सब कुछ मिल-मिला जायगा, जैसा कि चेतना की मानसिक और प्राणिक गतियों में प्रायः ही होता है। विशेष-कर शरीर ही एक ऐसा तत्त्व है जो उतना तरल न होने के कारण अपना पृथक्कारी व्यक्ति-त्व या अस्तित्व सुरक्षित रखता है। परंतु एक बार जब यह पृथक्त्व स्थापित हो जाता है तो इसे खो बैठने का भय भी वहां आ घुसता है—यह भयवृत्ति अनेक दृष्टियों से स्वास्थ्यकर है, पर भगवान् के संबंध में यह वृत्ति धारण करना गलती है। क्योंकि, भगवान् में तुम अपना व्यक्तित्व वास्तव में गंवा नहीं देते : तुम केवल अपना अहंकार छोड़ देते हो और वास्तविक व्यक्ति, दिव्य व्यक्तित्व या पुरुष बन जाते हो, यह पुरुष उस भौतिक चेतना की रचना की भांति अस्थायी नहीं है जिसे तुम साधारणतया अपनी आत्मा समझते हो। भगवान् की चेतना का एक बार स्पर्श होने की देर है और तुम तुरंत देखोगे कि उसमें तुमने कुछ भी खोया नहीं है। प्रत्युत, तुम एक नित्य और वास्तविक व्यक्तित्व उपलब्ध कर लेते हो जो शरीर की सैंकड़ों मृत्युओं तथा प्राणिक-मानसिक विकास के समस्त उतार-चढ़ावों के बाद भी जीवित बचा रह सकता है। इस रूपांतरकारी स्पर्श के बिना, तुम सदा भय से इधर उधर भटकते रहते हो। यह स्पर्श प्राप्त होने पर तुम क्रमशः ऐसी शक्ति विकसित करते हो कि तुम अपनी स्थूल सत्ता या शरीर तक का व्यक्तित्व खोये बिना इसे भी नमनीय बना सको। आज भी, यह शरीर सोलहों आना कठोर ही नहीं है, यह एक प्रकार की सहानुभूति से दूसरों की सचेतन चेष्टाएं अनुभव कर सकता है, जो सहानुभूति उनके समस्त सुख-दुःख के प्रति स्नायविक

प्रतिक्रियाएं प्रदर्शित करती है। साथ ही यह तुम्हारी आभ्यंतर चेष्टाएं प्रकट करने में भी समर्थ है–यह प्रसिद्ध ही है कि चेहरा मन का परिचायक और दर्पण होता है। परंतु भगवान् की चेतना ही शरीर को इतना प्रत्युत्तरशील बना सकती है कि वह अतिमानसिक अमरता की सभी गतियों को प्रतिबिंबित कर सके, और, शायद यह कहना अशुद्ध न होगा कि, वह सच्ची आत्मा का अभिव्यंजक बन सकता है तथा दिव्य बनकर उस उच्च व्यक्तित्व के शिखर पर पहुंच सकता है जो शारीरिक तौर पर भी मृत्यु और विनाश की आवश्यकता से ऊपर उठ सकता है।

अंत में, मैं एक बात की ओर तुम्हारा ध्यान खींचना चाहती हूं। यह विचार नितांत अशुद्ध है कि भगवान् की इच्छाशक्ति सदैव स्पष्ट रूप में संसार में काम कर रही है। जो कुछ भी होता है वह सब, वास्तव में, दिव्य ही नहीं। परम इच्छाशक्ति अभिव्यक्त होते समय उन निम्न शक्तियों की मिलावट के कारण विकृत हो जाती है जो इसे मूर्त्त रूप प्रदान करती हैं। वे एक ऐसा माध्यम हैं जो इसकी प्रेरणा को मिथ्या कर इसे अदिव्य रूप में परिणत कर डालता है। जो कुछ घटित होता है वह सब यदि सचमुच ही इसका निर्दोष प्रतिरूप है तो तुम संसार के विकारों एवं दोषों का समाधान कैसे करोगे? . . . यह बात नहीं कि भगवान् की इच्छाशक्ति वैश्व अज्ञान को पैदा ही नहीं कर सकती। वह सर्वशक्तिमान् है और समस्त संभावनाएं उसमें अंतर्निहित हैं। वह अपनी आद्य दृष्टि में जिस भी चीज की गुह्य आवश्यकता समझती है उसे वह संपादित कर सकती है। निःसंदेह, संसार का आदिकारण भगवान् ही है, यद्यपि हमें ध्यान रखना चाहिये कि कहीं हम इस तथ्य के बारे में अपनी मन-बुद्धि से, क्षुद्र नैतिक मूल्यों के अनुसार कोई मत न बनावें। परंतु जब एक बार संसार की उत्पत्ति के लिये आवश्यक अवस्थाएं नियत हो जाती हैं और निर्ज्ञान में निर्वर्त्तित होने को भगवान् की विकसनशील अभिव्यक्ति का एक ऐसा आधार मान लिया जाता है जिसके द्वारा भगवान् उन सब चीजों में से भी प्रकट हो सकता है जो उससे साक्षात् उलटी प्रतीत होती हैं, तब उच्चतर और निम्नतर में एक प्रकार का विभाजन पैदा हो जाता है। संसार का इतिहास सत्य और मिथ्या का पारस्परिक संघर्ष बन जाता है जिसमें छोटी-मोटी सभी चीजें भगवान् की वर्धमान क्रिया के ही प्रत्यक्ष प्रतिरूप नहीं हैं वरन् उसके विकृत रूप हैं। इन विकारों की उत्पत्ति का कारण है निम्न प्रकृति द्वारा किया गया बड़ा भारी प्रतिरोध। यदि ऐसा कोई भी प्रतिरोध न होता तो इस संसार में विजय करने को कुछ भी न होता। तब तो संसार समस्वरतापूर्ण होता, एक पूर्णता से दूसरी पूर्णता की ओर प्रयाण करनेवाला अविच्छिन्न पथ होता न कि आज की तरह संघर्षस्थल–संकटों और नाना संभावनाओं का क्रीड़ाक्षेत्र जिसमें भगवान् को अंतिम विजय की यात्रा में, वास्तविक विरोध, वास्तविक कठिनाई और प्रायः वास्तविक अस्थायी पराजय का सामना करना पड़ता है। इस संपूर्ण क्रीड़ा का जो यह तथ्य है ठीक यही हमें बताता है कि यह जगत् कोई मजाक नहीं है। भगवान् की इच्छाशक्ति अज्ञानगत विरोधी शक्तियों को छूते ही सचमुच विकृत हो जाती है। इसी से हमें संसार को बदलने और एक भिन्न प्रकार की व्यवस्था कायम करने के लिये अपने प्रयत्नों में ढील कभी नहीं छोड़नी चाहिये। हमें सजग होकर भगवान् के कार्य में सहयोग देना होगा न कि आराम से बैठकर यह सोचना होगा कि जो कुछ होता है वह सदैव अच्छे से अच्छा होता है। सब बात व्यक्ति की निजी वृत्ति पर निर्भर है। यदि घटित होनेवाली

घटनाओं की उपस्थिति में तुम यथासंभव ऊंची से ऊंची वृत्ति धारण कर सकते हो—अर्थात् यदि तुम यथाशक्य ऊंची से ऊंची चेतना के साथ अपनी चेतना का संबंध जोड़ लेते हो, तो तुम्हें पूर्ण निश्चय हो सकता है कि ऐसी दशा में तुम्हारे लिये सबसे अधिक भलाई की बात ही घटित होगी। परंतु ज्यों ही तुम इस चेतना से उतरकर नीचे की अवस्था में आ गिरते हो त्यों ही यह स्पष्ट है कि जो कुछ हो सकता है वह तुम्हारे लिये अच्छे से अच्छा ही नहीं होता, क्योंकि तुम अपनी सर्वोत्तम चेतना में नहीं होते। जैसा कि एक बार श्रीअरविंद ने कहा था, "जो हुआ सो होना ही था, परंतु इससे बहुत अधिक अच्छी चीज भी हो सकती थी।" जिस मनुष्य के साथ वह घटना घटी वह क्योंकि अपनी सर्वोच्च चेतना में स्थित नहीं था, अतः और कोई परिणाम संभव ही न था। परंतु यदि वह भगवान् के अवतरण को साधित कर रहा होता, तो चाहे सामान्य रूप से कोई स्थिति अनिवार्य होती वह उसके लिये भिन्न रूप में परिणत हो जाती। सारी बात यह है कि भगवान् की इच्छा की प्रेरणा को तुम किस प्रकार ग्रहण करते हो—इसी से बड़ा भारी अंतर पड़ जाता है।

जब तक तुम ऊंचे नहीं उठ जाते तब तक तुम इस परम इच्छाशक्ति को इसकी सत्यता के समग्र ऐश्वर्य समेत साक्षात् नहीं देख सकते। जब तक तुम अपनी निम्न प्रकृति को इसकी ओर खोल नहीं देते तब तक यह उस परम सत्य के रूपों में प्रकट होना शुरू नहीं कर सकती। अतएव दिव्य और अदिव्य का एक दूसरे से भेद करने के लिये तुम्हें नीट्शे (Nietzsche) की बतायी हुई अस्थायी सफलतारूपी कसौटीमात्र का प्रयोग करने से बचना होगा। क्योंकि, जीवन एक युद्धक्षेत्र है जिसमें भगवान् को हर एक छोटी मोटी बात में सफलता तभी प्राप्त होती है जब निम्न प्रकृति विरोधी शक्तियों का पक्ष लेने के बजाय भगवान् की प्रेरणाओं और प्रचालनाओं के प्रति ग्रहणशील होती है। पर तब भी सफलता की कसौटी बाहरी न होकर कहीं अधिक आंतरिक ही होती है। दिव्य गति प्रत्यक्ष चिह्नों से नहीं नापी जा सकती—यह एक विशेष प्रकार की लहर होती है जो अपनी उपस्थिति को सूचित कर देती है—बाहरी कसौटियां किसी काम की नहीं, क्योंकि जो चीज ऊपर से देखने में असफलता मालूम होती है वह भी वास्तव में दिव्य उपलब्धि हो सकती है... तुम्हें जो करना चाहिये वह यह कि अपने आपको पूरी तरह से भगवान् की कृपा पर छोड़ दो। कारण, प्रथम निवर्तन स्थापित होने के बाद भगवान् ने कृपा और प्रेम का रूप धारण करके ही जगत् को ऊपर उठाने का भार स्वीकार किया। भगवान् के प्रेम में ही रूपांतर की परम शक्ति होने का कारण यह है कि रूपांतर के निमित्त ही इसने अपने आप को जगत् के लिये दे डाला है और हर जगह अपने आप को प्रकट किया है। केवल मनुष्य के भीतर ही नहीं अपितु अत्यंत अंध जड़प्रकृति के समस्त अणुओं में इसने अपने आप को उंडेल दिया है ताकि यह संसार को मूल परम सत्य की ओर फिर से वापिस ला सके। इसी अवतरण को भारतीय धर्मशास्त्रों में परम यज्ञ कहा गया है। परंतु यज्ञ यह मानवीय दृष्टिकोण से ही है। मानव मन सोचता है कि यदि इसे ऐसी चीज करनी होती तो यह एक बड़ा भारी त्याग होता। परंतु भगवान् वास्तव में कभी न्यून नहीं हो सकता, चाहे कितने भी "त्याग" क्यों न करने पड़ें, उसके अनंत सारतत्त्व में कभी कोई कमी नहीं आ सकती।

अतिमानस और अधिमानस

श्रीअरविन्द का कार्य एक अद्वितीय भूलोक-रूपांतर है।

मन से ऊपर चेतन सत्ता के अनेक स्तर हैं जिनमेंसे वस्तुतः दिव्य लोक वह है जिसे श्रीअरविन्द ने अतिमानस—अर्थात् सत्य-लोक—का नाम दिया है। परंतु बीच में एक और विशिष्ट लोक भी है जिसे वे अधिमानस, अर्थात् वैश्व देवताओं का लोक कहते हैं। अधिमानस ने ही अब तक हमारे जगत् का परिचालन किया है। यही वह ऊंचे से ऊंचा लोक है जिसे मनुष्य अपनी आलोकित चेतना में उपलब्ध कर सका है। इसे ही परमोच्च भगवान् समझ लिया गया है और जो लोग इस तक पहुंचे हैं उन्हें इस बात पर कभी क्षण भर के लिये भी संदेह नहीं हुआ है कि उन्होंने सच्चे आत्म-तत्त्व का स्पर्श कर लिया है। कारण, इसकी ज्योतियां साधारण मानव चेतना के लिये इतनी महान् हैं कि यह पूर्ण रूप से चकाचौंध होकर यह मान बैठती है कि अन्ततः यही सर्वोच्च सद्वस्तु है। परंतु तथ्य यह है कि अधिमानस सत्य भगवान् से बहुत ही नीचे है। यह सत्य का वास्तविक धाम नहीं है। यह केवल स्रष्टाओं (formateurs) अर्थात् उन सब सर्जनकारी शक्तियों और देवताओं का लोक है जिनके आगे मनुष्य ने इतिहास के आदिकाल से शीश नवाया है। सत्य भगवान् क्यों प्रकट नहीं हुए हैं और क्यों उन्होंने पृथ्वी-प्रकृति का रूपांतर नहीं किया है इसका असली कारण यही है कि अधिमानस को भूल से अतिमानस समझ लिया गया है। वैश्व देवता पूर्ण रूप से सत्य-चेतना में ही निवास नहीं करते : वे तो केवल इसके संपर्क में रहते हैं और उनमेंसे प्रत्येक इसकी गरिमाओं के एक एक पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करता है।

इसमें संदेह नहीं कि अतिमानस ने भी इस जगत् के इतिहास में अपना कार्य किया है पर किया है सदा अधिमानस के ही द्वारा। अतिमानसिक चेतना और शक्ति का साक्षात् अवतरण ही जीवन को आमूलचूल आध्यात्मिक रूपों में पुनर्निर्मित कर सकता है। कारण, अधिमानस में तो संभावनाओं का खेल शुरू हो जाता है जो मन-प्राण-अन्न के इस निम्नतर त्रिविध जगत् के आरंभ होने का लक्षण है जिसमें हम सब अस्तित्व रखते हैं। जब कभी यह खेल तो होता है पर आत्मा के स्वाभाविक सत्य की सहज निर्भ्रांत क्रिया नहीं होती तब विकृति और अविद्या का बीज विद्यमान रहता है। यह नहीं कि अधिमानस अज्ञान का ही क्षेत्र है पर यह उच्चतर एवं निम्नतर के बीच एक सीमारेखा है, क्योंकि यहां संभावनाओं की और एक ऐसे चुनाव की, जो अभी विभाजित न होने पर भी पृथक् पृथक् है, क्रीड़ा के परिणाम-स्वरूप वस्तुओं के सत्य से विच्युति हो सकती है।

सुतरां, अधिमानस के अंदर मानवता को दिव्य प्रकृति में रूपांतरित करने की शक्ति नहीं है और हो भी नहीं सकती। उसके लिये तो अतिमानस ही एकमात्र कार्यकर साधन है। जीवन को आध्यात्मिक बनाने के अतीत प्रयत्नों से हमारे योग की विशेषता ही यह है कि हम जानते हैं कि अधिमानस की प्रभाएं उच्चतम सद्वस्तु नहीं हैं बल्कि मन और सत्य भगवान् के बीच का एक सोपानमात्र हैं।

सच्ची नम्रता–अतिमानसिक नमनीयता–आध्यात्मिक नवजन्म

सच्ची नम्रता, अतिमानसिक नमनीयता और आध्यतिमक नवजन्म के विषय में मुझसे अनेक बार प्रश्न किये गये हैं। अतः मैं इनका अभिप्राय संक्षेप में प्रतिपादित करूंगी। नम्रता चेतना की वह अवस्था है जिसमें, चाहे तुम्हें पहले कोई भी उपलब्धि प्राप्त हो, तुम्हें यह ज्ञात रहता है कि अनन्त अभी भी आगे विद्यमान हैं। निःस्वार्थ उत्प्रशंसा (admiration) का वह दुर्लभ गुण, जिसके विषय में मैं तुमसे पहले कह चुकी हूं, सच्ची नम्रता का केवल एक और पहलू ही है। कारण, वह तो निरा अभिमान ही होता है जो प्रशंसा करने से इनकार करता है और अपनी तुच्छ सफलताओं से ही संतुष्ट रहता है। वह उन अनंत को भूल जाता है जो उससे सदा ही उच्चतर रहता है। तो भी, ऐसी बात नहीं कि तुम्हें केवल तभी नम्र बनना चाहिये जब तुम्हारे अंदर कोई भी सार या दिव्य वस्तु न हो बल्कि तब भी जब तुम रूपांतर के मार्ग पर आरूढ़ हो। इसमें विरोधाभास भले ही प्रतीत हो पर यह सत्य है कि भगवान् पूर्ण रूप से सर्वगुणसंपन्न होते हुए भी पूर्ण रूप से नम्र हैं–इतने नम्र जितनी और कोई वस्तु कभी नहीं हो सकती। वे अपने आप को बड़ा अनुभव करने में संलग्न नहीं रहते। यद्यपि वे सर्व हैं वे सदैव अपने को उसमें उपलब्ध करने के लिये यत्नशील रहते हैं जो उनका 'अपना आप' नहीं है–इसी कारण तो उन्होंने अपनी सत्ता में यह जगत्-प्रपंच रचा है जो बड़ा भारी अनात्म प्रतीत होता है। वे एक ऐसे आकार में आ गये हैं जिसमें उन्हें अनंत समय तक अपने उस स्वरूप के अनंत तत्त्वों की खोज करनी है जिसे वे अपनी नित्य चेतना में पूर्ण रूप से धारण करते हैं।

ईश्वर की इस अनिर्वचनीय नम्रता की एक सबसे महान् विजय इस जड़तत्त्व का रूपांतर होगी जो प्रत्यक्ष ही अत्यन्त अदिव्य है। अतिमानसिक नमनीयता अन्तिम रूप से रूपांतरित जड़तत्त्व का एक विशेष गुण है। जो अतिमानसिक शरीर यहां प्रकट किया जाना है उसके मुख्य धर्म चार हैं: लघिमा, अनुकूलनीयता (adaptability), नमनीयता (plasticity) तेजस्विता। जब स्थूल शरीर पूर्ण रूप से दिव्य बन जायगा, तो इसे ऐसा अनुभव होगा मानों यह सदा वायु पर चल रहा हो, इसमें भारीपन या तमस् या अचेतना बिलकुल नहीं होगी। इसकी अनुकूलनीयता की शक्ति की भी कोई सीमा नहीं होगी: चाहे किन्हीं भी परिस्थितियों में इसे रख दिया जाय यह तुरंत अपने को उन मांगों के साथ संतुलित कर लेगा जो इससे की जायंगी क्योंकि इसकी पूर्ण चेतना उस सब जड़ता एवं अक्षमता को निकाल डालेगी जो साधारणतः जड़तत्त्व को आत्मा के लिये एक बोझ बना देती है। अतिमानसिक नमनीयता इसे ऐसी प्रत्येक विरोधी शक्ति के आक्रमण का सामना करने की सामर्थ्य देगी जो इसे भेदने का यत्न करेगी: यह आक्रमण का जड़ प्रतिरोध नहीं करेगा बल्कि, इसके विपरीत, इतना नमनशील होगा कि शक्ति को अपने में से गुजर जाने देगा और इस प्रकार उसे विफल कर देगा। तब यह कोई हानिकर परिणाम नहीं भोगेगा और अत्यंत घातक आक्रमण भी इसका बाल बांका नहीं कर सकेंगे। अंत में, यह प्रकाश के सत्त्व में परिवर्त्तित हो जायगा, एक एक कोषाणु विज्ञानमय ज्योति को विकीर्ण करेगा। इस ज्योति को केवल वे लोग ही नहीं देख सकेंगे जो अपनी सूक्ष्म दृष्टि को खुला रखने के लिये पर्याप्त विकसित हैं वरंच साधारण मनुष्य भी इसे प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे। यह प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक

प्रत्यक्ष तथ्य होगी, यह रूपांतर का एक ऐसा दृढ़ स्थायी प्रमाण होगी जो नास्तिक से नास्तिक को भी विश्वास करा देगा।

शरीर का रूपांतर परम आध्यात्मिक नवजन्म होगा——यह भूतकाल के समस्त साधारण जीवन का पूर्ण रूप से परित्याग कर देगा। कारण, आध्यात्मिक नवजन्म का अर्थ है अपने पिछले संस्कारों एवं अवस्थाओं का निरंतर वर्जन करना और इस प्रकार से जीवन बिताने की ओर अग्रसर होना मानों प्रत्येक नूतन क्षण में हम नये सिरे से जीवन आरंभ कर रहे हों। इसका मतलब है अपने पिछले कार्यों के उस प्रवाह से मुक्त होना जिसे कर्म कहा जाता है: दूसरे शब्दों में, प्रकृति के कार्य-कारण-रूप सामान्य व्यापार के बंधन से मुक्त होना। इस प्रकार जब हम अपनी चेतना के भीतर अतीत से संबंधविच्छेद करने में पूर्णतया सफल हो जाते हैं, तब वे सब छोटी-बड़ी भूलें, भ्रांतियां और मूर्खताएं,–जो अभी तक हमारी स्मृति में ताजी होने के कारण जोंकों की तरह हमसे चिमट जाती और हमारा जीवन-रस चूसती हैं,–हमसे झड़कर अलग हो जाती हैं और हम स्वतंत्र एवं अत्यंत आनन्दित हो जाते हैं। यह स्वतंत्रता केवल विचार का विषय ही नहीं है; यह अत्यंत ठोस, क्रियात्मक और तत्त्व-पूर्ण तथ्य है। हम वास्तव में स्वतंत्र हो जाते हैं, किसी चीज के बंधन में नहीं रहते, किसी के प्रभाव में नहीं आते, दायित्व के कष्ट से मुक्त हो जाते हैं। यदि हम अपने भूत का प्रतिकार, विनाश या अतिक्रमण करना चाहते हैं तो यह हम कोरे पश्चात्ताप या अन्य ऐसी चीजों से नहीं कर सकते। हमें भूल जाना होगा कि हमारा अरूपांतरित भूत कभी रहा भी है और चेतना की उस प्रकाशमय अवस्था में प्रवेश करना होगा जो समस्त बंधन तोड़ डालती है। नवजन्म लेने का अर्थ है, सर्वप्रथम अपनी उस अन्तरात्म-चेतना में प्रवेश करना जहां हम भगवान् से एकमय और कर्मफल से नित्य-मुक्त हो जाते हैं। अंतरात्मा से सचेतन हुए बिना ऐसा करना संभव नहीं; परंतु जब एक बार हम अपने अंदर की उस सच्ची आत्मा से स्थिरतया सचेतन हो जाते हैं जो सदा ही भगवान् के प्रति समर्पित है तो सभी बंधन समाप्त हो जाते हैं। तब जीवन अनवरत नये सिरे से आरंभ होता है, तब भूत हमसे और चिमटा नहीं रहता। आध्यात्मिक नवजन्म के चरम शिखर की तुम्हें कल्पना कराने के लिये मैं कह सकती हूं कि हमें इस प्रकार का एक सतत अनुभव प्राप्त हो सकता है कि सचमुच ही संपूर्ण विश्व प्रतिक्षण समाप्त हो रहा है और प्रतिक्षण ही नव-सृष्ट हो रहा है।

अतिमानसिक उपलब्धि

अतिमानसिक उपलब्धि कैसी होगी यह जानन के लिये पहला सोपान, पहली शर्त यह है कि हम अतिमानसिक चेतना के स्वरूप को समझें। जो लोग, चाहे किसी तरीके से भी, इसके संपर्क में आ चुके हैं, उन सबको इस आनेवाली उपलब्धि की कुछ झांकी अवश्य मिली होगी। पर जो इस चेतना के संपर्क में अभी नहीं आये, वे इस उपलब्धि के लिये अभीप्सा कर सकते हैं, ठीक उसी तरह जैसे वे अतिमानसिक ज्ञान की प्राप्ति के लिये कर सकते हैं। सच्चे ज्ञान का अर्थ है ज्ञेय के साथ एक होकर जानना। एक बार अतिमानसिक

जगत् के संपर्क में आ जाने के बाद ही तुम उसके अवतरण के विषय में कुछ कह सकते हो, उससे पहले नहीं। पहले तो तुम केवल यही कह सकते हो कि पृथ्वी पर एक नई सृष्टि होगी; यह तुम श्रद्धा से कहते हो, क्योंकि इसका यथार्थ स्वरूप तुम अभी जानते नहीं। यदि तुम्हें उपलब्धि की परिभाषा करने को कहा जाय तो तुम यह कह सकते हो कि वैयक्तिक दृष्टि से इसका अर्थ होगा तुम्हारी सामान्य मानवी चेतना का दिव्य और अतिमानसिक चेतना में रूपांतर।

चेतना एक सीढ़ी की भांति है; प्रत्येक महान् युग में एक महान् व्यक्ति हो चुका है जो सीढ़ी में एक और डंडा जोड़ देने तथा उस स्थान पर पहुंचने में समर्थ हुआ है जहां सामान्य चेतना की पहुंच कभी नहीं हुई थी। उच्च अवस्था प्राप्त करना और भौतिक चेतना को पूर्ण रूप से अतिक्रमण करना तो संभव है, पर तब व्यक्ति सीढ़ी को नहीं रख पाता, इसके विपरीत जगत् से संपर्क तोड़े बिना सीढ़ी में एक और डंडा जोड़ने, उच्चतम तक पहुंचने तथा शिखर को धरातल के साथ जोड़ देने की योग्यता ही संसार के महान् युगों की महान् प्राप्ति रही है। तब यह भी ध्यान में रखा गया कि किसी प्रकार का खालीपन विभिन्न स्तरों के आपसी संबंध को भी न तोड़ सके। ऊपर चढ़ना और नीचे उतरना, शिखर को धरातल के साथ जोड़ना ही इस उपलब्धि का संपूर्ण रहस्य है और यह काम अवतार का है। प्रत्येक बार जब वह सीढ़ी के साथ एक और डंडा जोड़ता है, पृथ्वी पर एक नई सृष्टि दृष्टिगोचर होती है.....जो डंडा अब जोड़ा जा रहा है उसे श्रीअरविन्द अतिमानस कहते हैं; परिणामस्वरूप चेतना, अतिमानसिक जगत् में प्रवेश भी कर सकेगी और अपना निजी स्वरूप, अपना व्यक्तित्व भी बनाये रखेगी और तब वह यहां एक नई सृष्टि स्थापित करने के लिये अवतरित होगी। निश्चय ही यह अंतिम अवस्था नहीं है, क्योंकि आगे सत्ता के और कई स्तर हैं; पर अब हम अतिमानस के अवतरण के और संसार में व्यवस्था लाने तथा उसमें पुनः सच्चा दिव्य विधान स्थापित करने के कार्य में लगे हुए हैं। यह आवश्यक रूप में सुव्यवस्था का निर्माण है जहां प्रत्येक वस्तु को अपने उचित स्थान पर रखा जायगा। जो मुख्य सत्ता या शक्ति इस समय गतिशील है, वह महासरस्वती है। यह पूर्ण सुव्यवस्था की देवी है।

ऐसी श्रृंखला का कार्य, जो व्यक्ति को ऊपर और नीचे जाने तथा जो ऊपर है उसे जड़ जगत् में लाने की अनुमति देती है, चेतना के भीतर होता है। जिसे यह कार्य करना है, वह अर्थात् अवतार, चाहे वह कारागार में बंद हो, किसी से मिलता-जुलता न हो, न बाहर निकलता हो, तब भी वह इसे कर सकेगा, क्योंकि यह कार्य चेतना-संबंधी है, यह अतिमानस और भौतिक सत्ता में संबंध जोड़ने का कार्य है। ऐसे अवतार को पहचान में आने की भी आवश्यकता नहीं, और न ही उसमें यह चेतन संबंध स्थापित कर सकने के लिये किसी बाह्य शक्ति के होने की आवश्यकता है। एक बार इस संबंध के जुड़ जाने पर इसका प्रभाव जगत् में एक नई सृष्टि के रूप में होगा—ऐसी नई सृष्टि के रूप में जो एक आदर्श नगर से प्रारंभ होकर एक पूर्ण जगत् में परिणत हो जायगी।

अतिमानसिक अवतरण

अतिमानसिक अवतरण ही हमारे कार्य की सफलतापूर्ण परिणति होगा; वह एक ऐसा अवतरण है जिसकी पूरी महिमा अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है, अन्यथा जीवन का सारा स्वरूप ही भिन्न प्रकार का हो गया होता। धीमी चाल से, थोड़ी थोड़ी मात्रा में अतिमानस हमारे ऊपर प्रभाव डाल रहा है, कभी तो हमारी सत्ता का एक भाग और कभी दूसरा उसकी दिव्यता का एक सुदूर स्पर्श अनुभव करता है; परंतु जब वह अपनी समस्त स्वाभाविक शक्ति के साथ नीचे उतर आयगा तब एक महान् मूलगत परिवर्तन हमारी प्रकृति को अधिकृत कर लेगा। अभी हम केवल तैयारी के काल में से गुजर रहे हैं; पर जहां एक बार जागतिक अवस्थाएं तैयार हुईं कि पूर्ण अवतरण घटित होगा और वह सर्वत्र प्रभावशाली हो जायगा। उसके आने पर हम उसे निश्चित रूप से पहचान सकेंगे, भूल होने की कोई गुंजायश नहीं होगी; उसकी शक्ति के सामने कोई बाधा नहीं टिक सकेगी; शंका, संदेह और कठिनाइयां उसके बाद कभी तुम्हें परेशान नही करेंगी। क्योंकि स्वयं भगवान् तुम्हारे सामने मूर्तिमान् खड़े होंगे—अपनी सच्ची परिपूर्णता में पूरे खुले हुए। अवश्य यहां मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सारा जगत् एक साथ ही उस अवतरण को अनुभव करेगा या उसके द्वारा रूपांतरित हो जायगा; पर मैं यह अवश्य कहना चाहती हूं कि कम से कम मनुष्यजाति का एक अंश, हम लोगों का यह छोटा सा जगत् अतिमानस के अवतरण को जानेगा और उसमें भाग लेगा। वहां से रूपांतरकारी कृपा-शक्ति कार्यकर रूप में प्रसारित होने लगेगी। और साधकों के लिये यह सौभाग्य की बात है कि यह सफल भविष्य, असंस्कृत मानव प्रकृति की बाधाओं के होते हुए भी, चरितार्थ होगा।

फुटकल वचन

एकमात्र निश्चल-नीरवता में ही सच्ची उन्नति की जा सकती है ; एकमात्र निश्चल-नीरवता के अंदर ही कोई अपनी भ्रांतिपूर्ण गतिविधि का सुधार कर सकता है ; एकमात्र निश्चल-नीरवता में ही कोई किसी दूसरे व्यक्ति को सहायता पहुंचा सकता है।

अगर तुमने कोई सत्य पाया हो, अथवा अपने अंदर की किसी भूल को सुधार लिया हो, अथवा कोई उन्नति की हो तो गुरु के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को उसके विषय में कुछ कहने या लिखने का मतलब है उस सत्य या उन्नति को तुरंत खो बैठना।

★

स्थिरता में ही शरीर अपनी ग्रहणशीलता बढ़ा सकता है और धारण करने की शक्ति प्राप्त कर सकता है।

★

सच्चा समर्पण तुम्हें विशाल बनाता है ; यह तुम्हारी क्षमता बढ़ाता है, यह तुम्हें गुण में और मात्रा में महत्तर मर्यादा प्रदान करता है, जिसे तुम स्वयं कभी न प्राप्त कर पाते।

★

कृपा सबके लिये एकसमान प्राप्य है। पर प्रत्येक व्यक्ति अपनी सच्चाई के अनुसार इसे ग्रहण करता है। यह बाहरी परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करती, बल्कि सच्ची अभीप्सा और उद्घाटन पर निर्भर करती है।

★

सच्चे और लाभदायी ढंग से मेरा सतत सान्निध्य प्राप्त करने के लिये तुम्हें अधिकाधिक सच्चे होना चाहिये, मेरी ओर खुलना चाहिये और निःसंकोच होना चाहिये। सब प्रकार का छल-कपट निकाल फेंको और निश्चय कर लो कि ऐसा कोई भी कार्य नहीं करोगे जिसे तुम मुझे तुरत न बता सको।

★

श्रद्धा चैत्य-पुरुष का सहज-स्वभाविक गुण है।

★

श्रद्धा एक ऐसी निश्चयता है जिसका किसी अनुभव या ज्ञान पर आश्रित होना आवश्यक नहीं।

★

साधना बराबर ही कठिन होती है और प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति में परस्पर-विरोधी चीजें रहती हैं और प्राण को उसके स्वभावगत अभ्यासों को छोड़ने के लिये राजी करना कठिन होता है। यह साधना छोड़ देने का कोई कारण नहीं है। साधक को अपनी केंद्रीय अभीप्सा को जगाये रखना चाहिये जो कि बराबर ही सच्ची होती है और फिर बीच में आनेवाली असफलताओं के होने पर भी दृढ़ता के साथ साधना करते रहनी चाहिये। तब निश्चय ही परिवर्तन सिद्ध होगा।

★

जहां तक प्राण में परिवर्तन आने का प्रश्न है, वह अपने आप ही आयगा जब तुम अपनी उच्चतर चेतना में रहने का अभ्यास बना लोगे, उस उच्चतर चेतना में जहां इन सब तुच्छ चीजों और क्रियाओं का कोई मूल्य ही नहीं है।

★

बराबर ही जब कोई कठिनाइयों का सामना करता है और उन्हें पार कर लेता है तब उसे एक नया आध्यात्मिक उद्घाटन और विजय प्राप्त होती है।

★

मैं नहीं विश्वास करती कि काम बदल देने से तुम्हें अपना चरित्र सुधारने में सहायता मिलेगी। यह पहले कभी भी सफल सिद्ध नहीं हुआ है।

★

इंद्रियां झूठी हैं, वे हमारे पास वस्तुओं का सत्य-स्वरूप नहीं लातीं, बल्कि केवल एक अपूर्ण और यहां तक कि मिथ्याकृत रूप लाती हैं।

★

स्त्रियां प्राणिक और भौतिक चेतना के साथ पुरुषों की अपेक्षा अधिक नहीं बंधी होतीं; बल्कि, अपने अंतःपुरुष को ढूंढ़कर उसी के अनुसार चलना उनके लिये अधिक सुगम होता है क्योंकि साधारणतः पुरुषों के गर्वपूर्ण मानसिक दावों का उनमें अभाव होता है।

उनकी सचेतनता मानसिक ढंग की नहीं होती जिसका शब्दों में वर्णन हो सके, पर वे अपने भावों में सचेतन होती हैं और उनमेंसे श्रेष्ठ कोटि की अपने कार्यों में भी सज्ञान होती हैं।

★

हमें दूसरों में भी वही चीज दिखाई देती है जो हमारे अंदर होती है। अगर हमें अपने चारों ओर सदा कीचड़ ही दिखाई देता है तो इससे सिद्ध होता है कि हमारे अंदर ही कहीं पर कीचड़ है।

★

हमारा सबसे उत्तम मित्र वह है जो हमें, हमारे सबसे उत्तम भाग में, प्यार करता है और साथ ही हम जो कुछ हैं उससे भिन्न बनने की हमसे मांग नहीं करता।

★

हमारा मूल्य बस उतना ही है जितना कि हम अपने आपको अतिक्रांत करने का प्रयास करते हैं, और अपने को अतिक्रांत करने का अर्थ है भगवान् को प्राप्त करना।

★

अपने आपको दे डालो—यही 'अपने आप' को पाने का सबसे उत्तम उपाय है।

★

यह निर्णय करने से पहले कि दूसरों में या परिस्थितियों में कुछ भूल है, तुम्हें इस विषय में बिलकुल निश्चित हो जाना चाहिये कि तुम्हारा निर्णय ठीक ही है—और भला तब तक कौनसा निर्णय ठीक हो सकता है जब तक कि हम साधारण चेतना में निवास करते हैं जो कि अज्ञान पर आश्रित है और मिथ्यापन से भरी हुई है?

एकमात्र सत्य-चैतन्य ही ठीक ठीक निर्णय कर सकता है। अतएव, सभी परिस्थितियों में, निर्णय करने का काम भगवान् पर ही छोड़ देना अधिक अच्छा है।

★

दो मानव प्राणियों के संबंध के अंदर चाहे कितनी भी सच्चाई, सरलता और पवित्रता क्यों न हो, वह संबंध कम या अधिक मात्रा में उन्हें सीधी भागवत शक्ति और सहायता की ओर से बंद कर देता है और उनकी शक्ति, ज्योति और सामर्थ्य को उनकी संयुक्त शक्यताओं तक ही सीमित कर देता है।

★

सम्मान-उपाधियां मनुष्य को कोई मूल्य प्रदान नहीं करतीं जब तक कि वे उसे भगवान् की सेवा द्वारा ही प्राप्त न हों।

★

जब तुम वास्तव में परिवर्तित हो जाओगे तब तुम्हारे आसपास की प्रत्येक चीज भी परिवर्तित हो जायगी।

★

भगवान् खूब अच्छी तरह तुम्हारी ओर झुक सकते हैं, पर उन्हें ठीक ठीक समझन के लिये तुम्हें उनतक पहुंचना होगा।

★

विरोधी शक्तियों को संसार में केवल इसी कारण सहन किया जाता है कि वे मनुष्य की सच्चाई को कसौटी पर कसती हैं। जिस दिन मनुष्य समग्र रूप में सद्हृदय हो जायगा उस दिन वे चली जायंगी, क्योंकि उसके बाद उनके बने रहने के लिये कोई कारण नहीं रह जायगा।

*

शिष्य गुरु से बाह्य रूपों को जांचते हैं, परंतु अन्य लोग बाह्य रूपों से गुरु को जांचते हैं।

*

तुम किस शक्ति का चुनाव करते हो और यंत्र बनने के लिये राजी हो जाते हो, सब कुछ इसी पर निर्भर करता है। और यह चुनाव तुम्हें जीवन के हर क्षण ही करना होता है।

बहुत पहले के प्रवचन

भाग १

'थोड़ी-देर-बाद' का रास्ता

"'थोड़ी-देर-बाद' का रास्ता और कल की सड़क हमें
केवल 'कुछ नहीं' के दुर्ग की ओर ही ले जाते हैं।"

रास्ते के दोनों ओर खिले रंग-बिरंगे फूल आंखों को लुभा रहे हैं। छोटे छोटे पेड़ों की गठीली डालियों पर लाल फल चमक रहे हैं और सुदूर खेतों में देदीप्यमान सूर्य अन्न की पकी बालों को सुनहला बना रहा है।

एक युवा पथिक प्रातःकाल की निर्मल वायु में सुखपूर्वक श्वास लेता हुआ सावधान पगों से आगे बढ़ रहा है। वह प्रसन्नचित प्रतीत होता है–भविष्य के बारे में बिलकुल निश्चिंत। जिस रास्ते पर वह चल रहा है वह एक चौराहे पर समाप्त होता है। वहां से कई मार्ग भिन्न भिन्न दिशाओं में फट जाते हैं।

युवक को सर्वत्र पदचिह्न दृष्टिगोचर होते हैं जो एक दूसरे को काटते हुए चारों ओर निकल गये हैं। आकाश में सूर्य लगातार चमक रहा है; पेड़ों पर पक्षी चहचहा रहे हैं; दिन निश्चय ही अत्यंत सुन्दर है। बिना सोचे विचारे पथिक सबसे निकट का मार्ग पकड़ लेता है और वह उसे अधिक सुगम भी प्रतीत होता है। एक क्षण के लिये वह सोचता है कि वह कोई और मार्ग भी तो चुन सकता था पर फिर वह कहता है कि यदि इस रास्ते ने उसे कहीं न पहुंचाया तो वापिस मुड़ने का समय तो सदा ही रहेगा। एक ध्वनि उससे ऐसा कहती प्रतीत होती है–

"लौट आ, वापिस लौट आ, तू ठीक रास्ते पर नहीं है।" परंतु चारों ओर का वातावरण उसे आकर्षक और सुखद लगता है। उसे कुछ समझ में नहीं आता कि वह क्या करे। बिना कुछ निश्चय किये वह चलता जाता है। तत्क्षण के सुख का वह मजा लेता रहता है। ध्वनि को वह उत्तर देता है–

"थोड़ा और, थोड़ा और। मैं फिर सोचूंगा, अभी तो बहुत समय है।" उसके चारों ओर की जंगली घास उसके कान में फुसफुसाती है–

"हां, थोड़ी देर बाद।"

थोड़ी देर बाद, हां थोड़ी देर बाद। अहा, इस सुगंधित वायु में श्वास लेना कितना सुखप्रद है जब कि सूरज अपनी उष्ण किरणों से हवा में एक मीठी गरमाहट ला रहा है! थोड़ी देर बाद, थोड़ी देर बाद! यात्री अभी भी चलता जाता है; रास्ता लंबा हो रहा है। दूर से आवाजें सुनाई पड़ती हैं–

"अभागे, तू कहां जा रहा है? तुझे सूझता नहीं कि तू विनाश के पथ पर है? तू युवक है। आ, हमारी ओर आ, सत्य की ओर आ, शिव की ओर आ, सुन्दर की ओर आ। आसान और लुभावने पथ के फेर में न पड़। वर्त्तमान में ही न सो जा, भविष्य की ओर बढ़।" "थोड़ी देर बाद, थोड़ी देर बाद", यात्री उन अप्रिय ध्वनियों को एक ही उत्तर देता है। फूल उसकी ओर मुस्कराते हैं और बार बार कहते हैं, "हां, थोड़ी देर बाद।" मार्ग लंबा होता जा रहा है। सूर्य चोटी पर पहुंच गया है। दिन लुभावना है। रास्ता एक चौड़ी सड़क में बदल गया है।

सड़क सफेद और धूमिल है; किनारों पर लंबे और पतले चीड़ के पेड़ खड़े हैं; पास में एक छोटी नदी के बहने का मंद स्वर सुनाई दे रहा है। वह व्यर्थ ही चारों ओर खोजता है। उस अनंत पथ का कोई सिरा उसे दिखाई नहीं पड़ता।

युवक को अब एक अस्पष्ट व्याकुलता सी अनुभव होने लगती है, वह चिल्ला पड़ता है–"मैं कहां हूं? कहां जा रहा हूं? पर कोई हर्ज नहीं। क्यों सोचूं, क्यों कुछ करूं? आज तो इस कभी समाप्त न होनेवाले पथ पर चलने दो, बढ़ने दो; सोचूंगा कल।"

वे छोटे पेड़ भी अब अदृश्य हो गये। सड़क के किनारों पर अब बलूत के वृक्ष हैं। दोनों ओर की संकरी घाटी नाला सा बन गई है। यात्री को थकावट का नामनिशान नहीं; वह अचेतन सी अवस्था में आगे बढ़ता जाता है।

घाटी और गहरी हो गई है; बलूत के वृक्षों का स्थान अब सनोवर ने ले लिया है। सूर्य ने नीचे उतरना शुरू कर दिया है। यात्री व्याकुल भाव में चारों ओर देखता है। घाटी में लोटती हुई, सनोवर के पेड़ों, ढालू चट्टानों और जमीन से बाहर निकली जड़ों के साथ चिपटी हुई मानुषी आकृतियों की ओर उसकी दृष्टि उठती है। उनमें से कुछ ऊपर उठने का बहुत प्रयत्न कर रही हैं, पर ऊपर पहुंचते ही वे अपना सिर घुमा लेती हैं और फिर नीचे गिर पड़तीहैं। मंद ध्वनियां यात्री से अब भी कह रही हैं–

"इस स्थान से बच निकल; वापिस उसी चौराहे पर पहुंच जा। अभी भी समय है।" युवक कुछ दुविधा में पड़ता है, फिर उत्तर देता है–"कल"। वह अपना मुंह हाथों से ढक लेता है जिससे वह घाटी में लोटती हुई मूर्त्तियों को न देख सके और पथ पर दौड़ पड़ता है। एक अदम्य प्रेरणा उसे आगे ही आगे लिये जा रही है। वह यह भी नहीं जानना चाहता

कि उसे कुछ प्राप्ति होगी या नहीं। माथे पर सिलवटें पड़ गई हैं, वस्त्र अस्तव्यस्त हो गये हैं, पर वह अंधाधुंध भागता ही जाता है। अंत में जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि वह उस भयावने स्थान से बहुत आगे निकल गया है तो वह अपनी आंखें खोल लेता है। अब सनोवर के पेड़ भी नहीं हैं। सर्वत्र रूखी नंगी चट्टानें धूलिधूसरित सी पड़ी हैं। सूर्य क्षितिज के पार अदृश्य हो चुका है; रात्रि का आरंभ है। सड़क एक असीम मरुभूमि में विलीन हो गई है। निराश यात्री, अपनी लंबी दौड़ से हारा-थका, अब ठहरना चाहता है, पर उसे आगे ही बढना है। उसके चारों ओर उजाड़ खंडहर पड़ता है। कुछ दबी घुटी आवाजें सुनाई पड़ रही हैं; उसके पैर कंकालों से ठोकरें खा रहे हैं। दूर में घना कुहासा भयावने रूप धारण कर रहा है। उसके सामने बड़े बड़े काले खंडों के खाके बन-बिगड़ रहे हैं; किसी भद्दी और अशुभ बात के होने का आभास मिल रहा है। यात्री चलकर नहीं, दौड़कर उस लक्ष्य की ओर बढ़ता है जो उसे सामने ही प्रतीत होता है पर पकड़ाई नहीं देता। भयंकर चीख-पुकार उसके पगों को धकेल रही है। वह प्रेत-छायाओं के साथ टकरा रहा है।

अंत में उसे सामने एक बड़ा सा गढ़ दिखाई पड़ता है—अंधेरा, उजाड़ और मनहूस। ऐसे मकानों के बारे में ही लोग दुःख से कहा करते हैं "यह तो भुतहा मकान है।" पर वह युवक उस स्थान की उदासी के बारे में नहीं सोचता; उसकी काली भयंकर दीवारें भी उसपर कोई प्रभाव नहीं डालतीं। वह धूसरित जमीन और भयावने बुर्ज भी उसे कंपायमान करने में समर्थ नहीं हो पाते। उसके मन में केवल एक विचार है कि वह लक्ष्य पर पहुंच गया है; वह अपनी थकावट और उदासी भूल जाता है। गढ़ के पास पहुंचकर वह एक दीवार के साथ टकराता है जो फौरन ढह जाती है। उसी समय उसके चारों ओर का सब कुछ ढेर हो जाता है; बुर्जियां, मुंडेरे और चारों ओर की दीवारें सब भूमिसात् हो जाती हैं। उनका मलवा जमीन पर पहले की मिट्टी के ऊपर जमा हो जाता है।

सर्वत्र उल्लू, कौए और चमगादड़ कर्कश आवाज करते हुए उड़ रहे हैं। कभी कभी तो वे बेचारे पथिक के सिर के ऊपर ही मंडराने लगते हैं जो चकित सा, म्लानमुख, हारा-थका मानों जमीन के साथ चिपक गया है, हिलने डुलने की शक्ति भी उसकी जाती रही है। इतने पर ही बस नहीं, अकस्मात् वह अपने सामने अब भयानक आकृतियां देखने लगा—विनाश, नैराश्य और जीवन के प्रति घृणा। और तो और, खंडहरों के बीच में भी उसे गहरे गढ़े के ऊपर खड़ी हुई, अंधेरी और धुंधली आत्महत्या की मूर्त्ति दिखाई दी। इन सब द्रोही प्रेतात्माओं ने उसे घेर लिया और उससे वे चिपट गईं। वे उसे खुली ढालू घाटी की ओर ढकेलती जा रही थीं। बेचारा पथिक उस अदम्य शक्ति का सामना करने का प्रयत्न करता है। अब वह पीछे हटना, वहां से भाग निकलना चाहता है। वह अब इन अदृश्य बाहुओं से, जो उसे चारों ओर से जकड़े हुई हैं, अपने आपको छुड़ा लेने का प्रयास करता है, पर अब बहुत देर हो चुकी है। वह लगातार उस विनाशकारी गढ़े की ओर बढ़ रहा है। वह उससे खिचा, मंत्रित सा अनुभव करता है। वह पुकारता है; कोई आवाज उसकी पुकार का उत्तर नहीं देती। वह उन आकृतियों को जोर से पकड़ता है पर वे सब उसके पास ही ढेर हो जाती हैं। उसकी विक्षिप्त फटी सी आंखें चारों ओर के शून्य को निहारती हैं। वह पुकारता है, विनती करता है; उत्तर में एक अशुभ और भयं-कर हंसी गूंज उठती है।

पथिक अब गढ़े के किनारे पर है। उसके सारे प्रयत्न निष्फल हो चुके हैं। एक घोर छटपटाहट के बाद वह गिर पड़ता है...अपनी खाट से नीचे।

एक युवा विद्यार्थी को अगले दिन के लिये एक लेख लिखना था। दिन के काम से वह कुछ थका हुआ था। घर लौटने पर उसने कहा—"अह, थोड़ी देर बाद लिखूंगा" कुछ देर के पश्चात् उसने सोचा कि यदि मैं जल्दी सो जाऊं तो जल्दी ही उठ बैठूंगा और तब मैं अपना काम थोड़ी देर में समाप्त कर लूंगा। सो उसने कहा—"अब तो मैं सोता हूं, कल मैं अधिक अच्छी तरह काम करूंगा। रात्रि एक अच्छी परामर्शदात्री भी है।" उसकी बात इतनी सत्य सिद्ध होगी उसे विश्वास न था। उपर्युक्त भयानक दुःस्वप्न ने उसकी नींद में व्याघात पहुंचाया और वह खाट से गिर पड़ने पर चौंककर जाग पड़ा। स्वप्न में जो कुछ उसने देखा था उसपर विचार करते हुए वह चिल्ला पड़ा, "पर यह है खूब सरल। यह रास्ता 'थोड़ी-देर-बाद' का रास्ता है। यह सड़क 'कल' की सड़क है। और यह बड़ा मकान, यह दुर्ग 'कुछ नहीं' का दुर्ग है।" अपनी होशियारी से वह प्रसन्न हुआ और तुरंत काम में लग गया। तभी उसने मन में पक्का निश्चय किया कि जो काम वह आज कर सकता है उसे वह कल पर नहीं छोड़ेगा।

एक नेता

जनवरी १९०७ की बात है। रूस का क्रांतिकारी आंदोलन हाल ही में घोर मारकाट के द्वारा दबा दिया गया था।

एक बार मैं और मेरे कुछ मित्र एक गोष्ठी में कुछ दार्शनिक विचार-विनिमय के लिये इकट्ठे बैठे हुए थे कि हमें समाचार मिला कि कोई रहस्यमय व्यक्ति बाहर उपस्थित है और हमसे मिलना चाहता है।

हम उससे मिलने के लिये बाहर आये। हमने ड्योढ़ी में बैठे हुए एक आदमी को देखा। उसके कपड़े साफ-सुथरे पर पुराने थे। दोनों बाहें पार्श्वों के साथ सटी हुई थीं। पीला मुख दृढ़ता से पृथ्वी की ओर झुका था जो उसके काले टोप से आधा ढका हुआ था—खदेड़े हुए जानवर का सा रूप था उसका।

जैसे ही हम उसके समीप पहुंचे उसने अपना टोप उतारा और सिर उठाकर हमपर एक द्रुत पर विश्वासपूर्ण दृष्टि डाली। ड्योढ़ी के धुंधले प्रकाश में उसकी रूप-रेखा कठिनाई से पहचानी जाती थी। सारा मुख मोम का सा प्रतीत होता था; केवल उसका उदास भाव ही स्पष्ट था।

चुप्पी को तोड़ने के लिये, जो अब अखरने लगी थी, मैंने उससे पूछा: "आप क्या चाहते हैं, महाशय?"

"मैं आपसे मिलने के लिये किएफ (kief) से आया हूं।" उसकी आवाज थकी हुई, गंभीर और जरा सहमी सी थी तथा लहजा हलका स्लाव (slav) था।

किएफ से, हमसे मिलने के लिये! बात साधारण न थी। हमें आश्चर्य हुआ। हमारी चुप्पी में उसने संदेह की छाया देखी और कुछ संकोच के साथ धीमी आवाज में वह बोला;

"हां, किएफ में कुछ विद्यार्थी हैं जिन्हें उच्च दार्शनिक विचारों में अत्यंत रुचि है। आपकी पुस्तकें हमारे हाथ लगीं और अंत में ऐसी समन्वयात्मक शिक्षा पाकर हमें अत्यंत प्रसन्नता हुई। आपकी शिक्षा केवल विचार तक ही सीमित नहीं रहती बल्कि कर्म तक पहुंचती है। बस मेरे साथियों, मेरे मित्रों ने मुझसे कहा—'जो काम हम करना चाहते हैं उसके विषय में उनकी सम्मति प्राप्त करने के लिये तुम उनके पास जाओ', और मैं आ गया।"

जिस भाषा में उसने यह सब कहा वह सुन्दर न सही, पर थी शुद्ध। संभव है कि वह सावधानी के लिये कुछ न कह रहा हो पर यह हम स्पष्ट अनुभव कर रहे थे कि जो कुछ उसने कहा है, वह कम से कम सत्य अवश्य है।

हम उसे अंदर ले आये और बैठक में बिठा दिया। अब हमने उसे पूर्ण प्रकाश में देखा। ओह! वह दीन और कष्टों से आक्रांत मुख अधिक जागने या फिर धूप और हवा से दूर रहने के कारण पीतवर्ण हो गया था। अधिक चिंता से उसपर झुरियां पड़ गई थीं। पर साथ ही वह एक सुंदर बौद्धिक प्रकाश से जगमगा रहा था जो उसके माथे के चारों ओर था और उसकी आंखों में ज्योति उत्पन्न कर रहा था—वे पीली और उदास आंखें निरंतर कार्य से या फिर आंसुओं से रक्तवर्ण हो रही थीं....।

हम कुछ विचलित से भाव में मौन बैठे रहे। पर कुछ देर बाद यह जानने के लिये कि वह हमसे क्या चाहता है हमने उससे पूछा: "अपने देश में आप क्या काम करते हैं?" उसने अपने आपको एकाग्र किया, फिर मानों किसी बात का संकल्प करता हुआ धीरे धीरे बोला: "मेरा काम क्रांति है।"

यह उत्तर उस शहरी वैभवशाली कमरे में मृत्यु की घंटी के समान गूंज उठा।

फिर भी अपने मनोभाव को बिना प्रकट किये और उसकी इस साहससूचक सच्चाई के प्रति प्रशंसात्मक भाव रखते हुए हमने उत्तर दिया: "क्या आप बतायेंगे कि हम आपकी क्या सेवा कर सकते हैं?"

क्योंकि हमारा भाव उसकी ओर अब भी वैसा ही था, इससे उसे आश्वासन मिला और उसने अपनी कथा आरंभ की:—

"रूस में आजकल जो कुछ हो रहा है उससे तो आप परिचित ही हैं, इसलिये मैं उसके बारे में कुछ नहीं कहूंगा पर कदाचित् आप यह नहीं जानते होंगे कि इस क्रांतिकारी आंदोलन के केंद्र में कुछ व्यक्तियों की एक टोली है जो अपने आपको विद्यार्थी कहते हैं। मैं उन्हीं में से एक हूं। संयुक्त निश्चयों पर पहुंचने के लिये हम समय समय पर एकत्र होते हैं पर अधिकतर तो हम बिखरे ही रहते हैं, न केवल इसलिये कि हमारी ओर किसी का ध्यान आकर्षित न हो वरन् इसलिये भी कि हम कार्य को स्वयं निकट से चला सकें। मैं उनको संबंधित करनेवाला सूत्र हूं। जब उन्हें किसी विषय पर विचार-विनिमय करना होता है तो वे मेरे स्थान पर ही एकत्र होते हैं।

बहुत समय तक हमने खुले तौर पर, जोर-जबर्दस्ती से लड़ाई की है। हम आशा करते थे कि आतंक द्वारा हम विजय प्राप्त कर लेंगे। न्याय, स्वतंत्रता और प्रेम के पक्ष को विजय दिलाने की उत्कट और तीव्र इच्छा के प्रभाव में हमें सब साधन उचित दिखाई देते थे। मैं मनुष्यजाति के दुःखों को दूर करने के लिये अपनी आत्मा में प्रेम और दया अनुभव करता हूं। मैंने डाक्टरी भी केवल इसलिये सीखी कि मैं मानव की व्याधियों के साथ संघर्ष कर

सकूं तथा उसके दुःख-दर्द को कम कर सकूं। पर मैं दुःखजनक परिस्थितियों से घोरतम रक्तपात के निश्चयों के लिये बाधित हो गया। है न यह आश्चर्यजनक? और यह तो कोई विश्वास नहीं करेगा कि इसमें मैंने कितना दुःख झेला है, परंतु है यह सत्य। वास्तव में दूसरों ने मुझे आगे धकेला, प्रबल युक्तियों से अभिभूत कर दिया और कई बार अपनी बात पर मुझे विश्वास कराने में वे सफल भी हो गये।

फिर भी, कार्य के उग्र वेग के समय भी, मैं जानता था कि करने को इससे अधिक अच्छा कार्य भी है, हमारे उपाय श्रेष्ठ नहीं हैं और हम अपनी उत्तम शक्ति निरर्थक गंवा रहे हैं। मैं यह भी जानता था कि उस उत्कट जोश के होते हुए भी, जो कि हमें अनुप्राणित कर रहा था, हम पराजित हो सकते हैं।

हमारा पतन अब आ गया है। हम खड़ी फसल की तरह काट डाले गये हैं। दुर्भाग्य ने हमें एकत्र होने, विचार करने के लिये विवश कर दिया है। हमने अपने योग्यतम साथियों को खो दिया है। हममेंसे सबसे अधिक बुद्धिमान् और योग्य व्यक्तियों ने, जो हमें आगे चलाते तथा हमारा पथप्रदर्शन करते थे, निर्वासन और मृत्युदंड द्वारा अपने साहसिक आत्म-समर्पण का मूल्य चुकाया है। हमारे साथियों में भय और घबराहट का साम्राज्य छा गया है और अंत में मेरे विचार और भाव उनकी समझ में आ गये हैं।

हम शारीरिक शक्ति द्वारा टक्कर लेने के लिये काफी बलशाली नहीं हैं, क्योंकि हममें न तो काफी एकता है और न संगठन। प्रकृति के गहन नियमों को भली प्रकार समझने, नियमानुसार काम करने का अभ्यास डालने और अपने प्रयत्नों को संगठित करने के लिये हमें अपनी बुद्धि को उन्नत करना होगा। जो हमारे आसपास रहते हैं उन्हें हमें विचार करना सिखाना होगा—अपने आप विचार करना, जिससे वे उस लक्ष्य को भली प्रकार समझ सकें जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं तथा हमारे लिये एक यथार्थ सहायता सिद्ध हों न कि बाधा जैसा कि प्रायः वे इस समय हैं।

मैंने उनसे कह दिया है कि किसी जाति को स्वतंत्रता प्राप्त करने से पहले उसका अधिकारी बनना चाहिये, उसके योग्य बनने, उसका आनंद भोगने की उसमें क्षमता होनी चाहिये। रूस में ऐसी बात नहीं है। जनसमुदाय को शिक्षा देने, उन्हें जड़ता में से खींच निकालने के लिये हमें बहुत कुछ करना पड़ेगा। जितनी जल्दी हम इस काम में लग जायेंगे उतनी जल्दी ही हम नवीन कार्य के लिये तैयार हो पायेंगे।

ये बातें अपने मित्रों को समझाने में मैं सफल हुआ हूं। उन्होंने मुझपर विश्वास किया है और अब हम इनके अध्ययन में लग गये हैं। इस प्रकार हमें आपकी पुस्तकें पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ और अब मैं आपके पास आया हूं, यह जानने के लिये कि आपके विचार हमारी वास्तविक अवस्था में कैसे घटाये जा सकते हैं। आपकी सहायता मैं एक कार्यक्रम बनाने तथा एक ऐसी पुस्तिका लिखने में चाहता हूं जो व्यक्तियों में ऐक्य, सामंजस्य, न्याय और स्वतंत्रता के उच्च विचार फैलाने के लिये हमारा नया शस्त्र बन सके।"

वह क्षण भर विचारमग्न रहा, फिर अपेक्षाकृत धीमी आवाज में बोला:

"पर मैं कभी कभी अपने से प्रश्न करता हूं कि यह मेरा दार्शनिक स्वप्न कहीं कोरा आदर्श तो नहीं है, कहीं मैं अपने भाइयों को इस मार्ग पर लाकर गलती तो नहीं कर रहा

हूं, कहीं यह कायरता तो नहीं है; संक्षेप में क्या यही अधिक अच्छा तो नहीं होगा कि हम अंत तक अत्याचार का सामना अत्याचार से, विनाश का विनाश से और संहार का संहार से करें।"

"आपके जैसे पक्ष को विजय दिलाने के लिये जोर-जबर्दस्ती कभी भी अच्छा साधन नहीं हो सकती। न्याय को अन्याय से और मेल को घृणा से प्राप्त करने की आशा आप कैसे कर सकते हैं?"

"मैं यह जानता हूं। हम सबका लगभग यही विचार है। ऐसे कार्यों से जिनमें रक्त बहाना पड़े, कम से कम मुझे तो विशेष घृणा है, ये मुझे दहला देते हैं, एक एक आदमी जब हमारी बलिवेदी पर चढ़ता है, मैं एक तीव्र पश्चात्ताप से भर जाता हूं। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि हम केवल इसी कारण अपने लक्ष्य से दूर हो रहे हैं।

पर जब व्यक्ति घटनाओं द्वारा विवश किया जाय, जब वह अपने आपको उन विरोधियों के बीच में पाये जो हमें कुचल देने की आशा में सामूहिक हत्या करने में भी संकोच नहीं करते तो आप ही बताइये कि वह क्या करे। पर इसमें वे कभी सफल नहीं होंगे। एक एक करके हम सभी मृत्यु को प्राप्त हो सकते हैं, पर जो पवित्र कार्य हमने अपने कंधों पर लिया है उससे हम कभी पीछे नहीं हटेंगे; जिस उच्च आदर्श का पालन करने के लिये हमने अपनी आत्मा को साक्षी बनाकर शपथ ली है उसके साथ हम अपने अंतिम श्वास तक कभी विश्वासघात नहीं करेंगे।"

ये शब्द एक दुःख-भरे निश्चय के साथ कहे गये थे। उसी समय उस अज्ञात वीर के मुख पर एक उच्च रहस्यवादी भाव लक्षित हो उठा। यदि मुझे उसके सिर पर कभी शहीदों का कांटेदार ताज देखना पड़े तो जरा भी आश्चर्य नहीं होगा।

उत्तर में मैंने उससे कहा: "किंतु जैसा कि प्रारंभ में आपने कहा था, कि आपको यह अब स्वयं स्वीकार करना पड़ रहा है कि इस खुले संघर्ष में वीरता के विशाल भाव की कमी नहीं। पर फिर भी यह बहादुरी मूर्खतापूर्ण तथा निरुपयोगी है। कुछ समय के लिये आपको पीछे हट जाना चाहिये। मौन भाव में अपने आपको तैयार करना चाहिये। अपनी शक्तियों को इकट्ठा करके, संगठित होकर आपको अधिकाधिक एकीकृत हो जाना चाहिये, ताकि अनुकूल समय आने पर संगठन करनेवाली बुद्धि के सर्वसमर्थ बल से, जो कि हिंसा की तरह पराजित नहीं की जा सकती, आप विजय पा सकें।

अपने विरोधियों के हाथ में और अधिक शस्त्र मत दें, पूर्ण रूप से दोषरहित होकर उनके सामने साहसपूर्ण सहनशीलता, सच्चाई और न्याय का उदाहरण रखें। तब आपकी विजय निकट आती जायगी क्योंकि सत्य आपके पक्ष में होगा—यह पूर्ण सत्य न केवल लक्ष्य में वरन् उसकी प्राप्ति के साधनों में भी होगा।"

वह मेरी बात बड़े ध्यानपूर्वक सुन रहा था, बीच बीच में स्वीकृतिसूचक सिर भी हिलाता जा रहा था। कुछ देर की भावपूर्ण चुप्पी के बाद, जब कि हमने उसके चारों ओर इस संघर्ष में उसके साथियों की दुःखद आशाएं तथा तीव्र इच्छाएं मंडराती हुई अनुभव कीं, वह मेरी ओर मुड़कर बोला:

"श्रीमतीजी, मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि एक स्त्री भी ऐसे विषयों पर अपना अधिकार रखती है। स्त्रियां भले दिन शीघ्र लाने के लिये बहुत कुछ कर सकती हैं।

रूस में भी इन्होंने हमें अपनी अमूल्य सेवाएं प्रदान की हैं। इनके विना हममें इतनी वीरता, इतनी शक्ति और इतनी सहनशीलता आ ही नहीं सकती थी। ये हमारे बीच में एक शहर से दूसरे शहर को, एक दल से दूसरे दल में जाकर सबको आपस में मिलातीं, निराश व्यक्तियों को साहस बंधातीं, गिरे हुओं को उठातीं, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करतीं, अपने अंदर, अपने साथ एक आशा, एक विश्वास और अथक उत्साह लिये घूमती-फिरती थीं।

मोमबत्ती के धुंधले प्रकाश में रातों जागकर लिखने के कारण जब मेरी आंखें रुग्ण हो गईं तो एक स्त्री ही मेरे काम में मुझे सहायता देने के लिये आगे बढ़ी। दिन में तो मुझे कोई और व्यवसाय रखना ही होता था ताकि लोगों का ध्यान मेरी ओर न खिंचे। केवल रात में ही हम योजनाएं बना सकते थे। अपने सिद्धांतों को पुस्तिका के रूप में लिखना, उसकी कई प्रतिलिपियां तैयार करना, सूचियां बनाना आदि इस प्रकार के काम भी मैं केवल रात में ही कर सकता था। धीरे धीरे मेरी आंखों की ज्योति क्षीण होती गई; अब मैं बड़ी कठिनाई से देख सकता हूं। तब इस कार्य के प्रति श्रद्धा होने के कारण उस युवती ने मेरी लेखिका बनना स्वीकार किया। जितनी देर भी मैं उसे लिखाता, वह बिना जरा भी आलस्य और थकावट माने लिखती रहती।" उस नम्र श्रद्धा और त्याग के प्रतीक का विचार आते ही उसके मुख का भाव कोमल हो उठा।

"वह मेरे साथ पेरिस आई है और हम रोज रात को इकट्ठे काम करते हैं। यह उसी की कृपा का फल होगा कि जिस पुस्तिका के बारे में मैंने अभी जिक्र किया है वह मैं अब लिख सकूंगा। आप जानती हैं कि मेरे जैसे जोखिमवाले आदमी के साथ फिरना कितने साहस का काम है। अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिये मुझे सर्वत्र चोर-डाकू की तरह छिपना पड़ता है।"

"कम से कम पेरिस में तो आप सुरक्षित हैं न?"

"हूं भी और नहीं भी। मुझे पता नहीं क्यों ये लोग हमसे डरते हैं, हमें भयंकर राज-विद्रोहियों के रूप में देखते हैं, हमारी चौकसी करते हैं, हमपर करीब करीब उतनी ही जासूसी करते हैं जितनी हमारे देश में हमपर की जाती थी। क्या कोई यह सोच सकता है कि जिनका लक्ष्य ही—अपना रक्त बहाकर भी—न्याय को विजय दिलाना है, क्या उनमें फ्रांस जैसे देश के लिये, जिसने सदा ही दुर्बलों की रक्षा की है और न्याय का पक्ष लिया है, कृतज्ञता का अभाव हो सकता है? वे एक ऐसे शहर की शांति किस लिये भंग करेंगे जो उनके अत्यंत दुःखमय दिनों में उनका आश्रय बना है?"

"तो आपका कुछ समय यहां ठहरने का विचार है?"

"हूं, उतने समय के लिये जितना मेरे लिये संभव हुआ, जब तक वहां मेरे भाइयों को मेरी आवश्यकता नहीं पड़ती और जब तक युद्ध को पुनः शुरू करने के आवश्यक साधन इकट्ठे करने में मैं उनकी यहां सेवा कर सकूंगा। परंतु अब के यह युद्ध उतना ही शांति और विचारपूर्वक किया जायगा जितना कि हमसे संभव हो सकेगा।"

"आप हमसे फिर मिलने के लिये आयंगे न? क्यों! अपनी पुस्तिका के सारे प्रस्ताव और आयोजनाएं भी साथ लेते आइयेगा। हम उन सबके बारे में जरा अधिक विस्तारपूर्वक बातचीत करेंगे।"

"हां, यह काम शुरू हो जाने पर जितनी जल्दी हो सका मैं आऊंगा। आपसे दुबारा मिल-

कर तथा बातचीत करके मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी। विदा लेते हुए उसने हमारे हाथों को अपने हाथों में विशेष उत्साहपूर्वक दबाया और अपनी करुण और उदास आंखों से, जो आशा और विश्वास से परिपूर्ण थीं, हमारी ओर देखा।"

हम उसके साथ द्वार तक आये; वहां उसने दुबारा हमारे साथ प्रेमपूर्वक हाथ मिलाया और फिर वह गंभीर वाणी में बोला:

"उन लोगों से मिलना बड़ा भला लगता है जो हमपर विश्वास करते हैं, जिनका न्याय-विषयक आदर्श वही है जैसा कि हमारा, और जो हमें चोर-डाकू या पागल नहीं समझते क्योंकि हम उस आदर्श को प्राप्त करना चाहते हैं। अच्छा, बिदा...."

पर वह फिर आया नहीं।

क्षमारूप जल्दी के लिखे हुए दो-एक शब्द ही मिले। उसपर अत्यधिक चौकसी रखी गई, संदेह किया गया। उसे कई बार अपना निवासस्थान बदलना पड़ा और अंत में उस कोमल-हृदय और न्यायप्रिय आदमी को अपने देश लौट जाना पड़ा—ऐसे देश जहां शायद दुःखद अंत उसकी प्रतीक्षा कर रहा था.....।

सद्‌गुण

एक विशाल भवन था। उसके बीचोंबीच स्थापित था एक गुप्त देवालय जिसकी देहली को अभी तक किसी ने पार नहीं किया था। और तो और, उसके बाहरी भागों में भी किसी मनुष्य का कम ही प्रवेश हुआ था। कारण, वह एक ऊंचे बादल पर स्थित था, और आदि-काल से लेकर अब तक बिरले ही वहां का मार्ग ढूंढ़ने में समर्थ हुए थे।

यह था 'सत्य-प्रासाद'।

एक बार यहां एक भोज का आयोजन हुआ। इस भोज में मानव नहीं वरन् उनसे अत्यंत भिन्न, वे छोटे-बड़े देवी-देवता आमंत्रित हुए थे जो इस पृथ्वी पर 'सद्‌गुणों' के नाम से पुकारे जाते हैं।

उस प्रासाद के अगले भाग में एक महाकक्ष था। उसका फर्श, छत और उसकी दीवारें स्वयं प्रकाशमान थीं, तिसपर हजारों बत्तियों से और भी जगमगा रही थीं।

यह ज्ञान-शक्ति का महाकक्ष था। यहां प्रकाश फर्श के पास हलका पड़कर गहरा सुन्दर नीलम-रंग का हो रहा था और छत की ओर अधिकाधिक तेज हो गया था, जहां हीरों के झाड़फानूस लटके हुए थे तथा अपने हजारों मुखों से अत्युज्ज्वल किरणें चारों ओर फेंक रहे थे।

सब सद्‌गुण अलग अलग आये पर शीघ्र ही वे एक दूसरे से हिल-मिल गये। सभी प्रसन्न थे कि कम से कम वे एक बार इकट्ठे तो हो सके हैं, जब कि सामान्यतया जगत् अथवा जगतों में वे बिखरे रहते हैं तथा भिन्न प्रकार के लोगों में अलग अलग रहते हैं।

देवी-देवताओं की इस भोज-सभा की नेत्री थी 'सद्‌हृदयता'। स्वच्छ जल के समान पार-दर्शी पोशाक से आवृत वह हाथ में एक शुद्ध स्फटिक का घन लिये खड़ी थी, जिसमेंसे वस्तुएं वैसी दिखाई देती थीं जैसी कि वे हैं, जैसी वे साधारणतया प्रतीत होती हैं उससे बहुत भिन्न, क्योंकि उसमेंसे वस्तुएं बिना विकृति के प्रतिबिंबित होती थीं।

उसके पास ही स्वामिभक्त अंगरक्षिकाओं की तरह खड़ी थीं 'विनम्रता', जो सम्मान-कारी के साथ साथ गौरवपूर्ण भी थी, और 'वीरता', जिसका मस्तक ऊंचा था, आंखें चमकती, मुख दृढ़ और सस्मित तथा सामान्य भाव शांत और निश्चयात्मक।

'वीरता' के पास ही हाथ में हाथ रखे पूरी ढकी हुई एक नारी खड़ी थी। उसकी केवल दो तीक्ष्ण आंखें ही उस कपड़े को भेदती हुई बाहर दीख पड़ती थीं। वह थी 'बुद्धिमत्ता'।

सबके बीच में इधर-उधर आती-जाती, फिर भी सबके पास हर समय उपस्थित सी थी 'उदारता'—चौकन्नी तथा शांत, क्रियाशील तथा विवेकपूर्ण। उस समूह में वह जिधर से गुजरती थी अपने पीछे एक उज्ज्वल मृदु प्रकाश की रेखा छोड़ जाती थी। यह प्रकाश जिसे वह प्रक्षिप्त कर रही थी और जो उसमेंसे छनकर आ रहा था वस्तुतः एक सूक्ष्म तथा अधिकांश के लिये अदृश्य रूप से, उसकी स्थिर साथिन, उसकी जुड़वां बहिन न्यायशीलता से प्रसारित हो रहा था। और उदारता के चारों ओर तेजस्वी सहचरों के रूप में उपस्थित थे 'दयालुता', 'धैर्य', 'कोमलता', 'सम्मान' तथा और भी बहुत से।

सभी देवी-देवता उस भोज में उपस्थित थे। कम से कम ऐसा सबका विश्वास था।

पर तभी अचानक कमरे के स्वर्ण-द्वार पर एक आगंतुका आ उपस्थित हुई। बड़ी कठिनाई से द्वारपालों ने उसे अंदर आने की अनुमति दी थी। न तो उसे अभी तक किसी ने देखा था और न ही उसका रूप-स्वरूप कुछ प्रभावशाली था। वह युवती दुबली-पतली थी। अपनी साधारण सफेद पोशाक में बड़ी सरल बल्कि गरीब सी प्रतीत होती थी। कुछ झिझकते हुए, सिटपिटाये से भाव में वह कुछ कदम आगे बढ़ी। पर निश्चय ही वह अपने आपको इतनी बड़ी तथा प्रभावशाली सभा में पाकर कष्ट और दुविधा अनुभव कर रही थी। वह रुक गई और समझ नहीं सकी कि वह किसकी ओर जाय।

उधर थोड़ी देर अपने साथियों के साथ परामर्श के बाद तथा उनकी प्रार्थना पर बुद्धिमत्ता अज्ञात आगंतुका की ओर बढ़ी। वह खांसी, जैसे लोग दुविधा में होने पर थोड़ा सोचने के लिये करते हैं, और तब उसकी ओर अभिमुख होकर बोली : "आज जितने भी हम यहां एकत्रित हुए हैं, सब एक दूसरे को नाम या गुण से जानते हैं। आपको देखकर हम सबको बड़ा आश्चर्य हुआ है। आप अजनबी सी प्रतीत होती हैं। कम से कम आज से पहले हमने कभी आपको नहीं देखा। कृपया बतायंगी आप कौन हैं?"

आगंतुका ने एक लंबी सांस ली और उत्तर दिया—शोक! मुझे कुछ आश्चर्य नहीं कि मैं यहां अजनबी प्रतीत होती हूं। मैं कम ही कहीं आमंत्रित होती हूं। मेरा नाम है 'कृतज्ञता'।

चिंतनविषयक

(स्त्रियों के साथ एक संभाषण)

क्योंकि हम अधिक अच्छा जीवन व्यतीत करने के लिये अधिक अच्छा चिंतन करना सीखना चाहती हैं, तथा क्योंकि हम स्त्रीरूपी पूरक के तौर पर अपना स्थान और ठीक जीवन-स्थिति पुनः प्राप्त करने के लिये तथा कार्यकर रूप में उपयोगी, प्रेरणाप्रद और संतुलन-जनक अंग बनने के लिये—जैसा कि हम निहित रूप में हैं,—चिंतन करना जानना चाहती हैं, मेरे

विचार में यह आवश्यक है कि हम पहले यह जानने की कोशिश करें कि चिंतन का अपना स्वरूप क्या है।

चिंतन, विचार......यह एक बहुत बड़ा विषय है, शायद सब विषयों में बड़ा; अतः मैं यह दावा नहीं करती कि मैं इसे आपको पूर्ण और उचित रूप में बता ही सकूंगी, पर विश्लेषण द्वारा हम इसकी एक यथासंभव स्पष्ट भावना बनाने का यत्न करेंगी।

सबसे पहले, विचार को हमें दो श्रेणियों में विभाजित करना पड़ेगा। ये वास्तव में विचार के दो प्रकार हैं जो एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं,–एक तो वे विचार हैं जो वेदनों (sensations) के परिणामस्वरूप हममें विद्यमान होते हैं और दूसरे वे हैं जो सजीव सत्ताओं की भांति होते हैं; ये हममें कहां से आते हैं इससे अधिकतर हम अनभिज्ञ ही रहते हैं। हां, हमारी बाह्य सत्ता में वेदन के रूप में प्रकट होने से पहले हम इन्हें मानसिक रूप में जान अवश्य लेते हैं।

यदि आपने थोड़ा सा भी आत्मनिरीक्षण किया है तो आपने यह देखा होगा कि अपने से भिन्न किसी चीज के साथ आपका पहला संपर्क सदा इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा ही स्थापित होता है–देखने, सुनने, छूने, सूंघने आदि से। इस प्रकार का संवेदन–चाहे वह हलका हो या जोरदार, रुचिकर हो या अरुचिकर–हमारे अंदर घृणा या सहानुभूति का, आकर्षण अथवा अरुचि का भाव उत्पन्न कर देता है। यह भाव शीघ्र ही एक ऐसे विचार अथवा मत में परिवर्त्तित हो जाता है जो आप उस वस्तु के बारे में बना लेती हैं जिसने वह संबंध स्थापित किया था, वस्तु चाहे जो हो।

एक उदाहरण लीजिये: आप घर से बाहर निकलती हैं। देहली से बाहर पैर रखते ही वर्षा आरंभ हो जाती है और आपको एक नम सर्दी का अनुभव होता है। यह वेदन आपको अरुचिकर है। आपको वर्षा से चिढ़ हो जाती है। आप मन ही मन यंत्रवत् सी कह उठती हैं–"कैसी दुःखदायी है यह वर्षा! और फिर ऐसे समय जब कि मुझे बाहर जाना है; बुरी तरह से भीग तो मैं जाऊंगी ही! वर्षा से पेरिस शहर बहुत गंदा हो जाता है और खासकर इस समय जब कि सब सड़कें खाइयां सी हो रही हैं इत्यादि इत्यादि।"

वर्षा जैसी साधारण घटना को लेकर ये सब और इनसे मिलते-जुलते ऐसे और विचार आपके मन को विक्षुब्ध कर देते हैं। इस बीच में यदि कोई और दूसरी वस्तु, आंतरिक या बाह्य, आपका ध्यान न बंटा ले तो आपका मस्तिष्क बहुत देर तक शायद अनजाने ही इसी तुच्छ अनुभूति को लेकर अत्यंत क्षुद्र विचार गढ़ता रहेगा।

मनुष्य-जीवन का एक बहुत बड़ा भाग इसी प्रकार निकल जाता है। अधिकतर इसी को लोग सोचना अर्थात् चिंतन करना कहते हैं, जब कि यह है वास्तव में एक मानसिक क्रिया जो साधारणतया अपने आप ही असंबद्ध रूप में यंत्रवत् सी चलती रहती है। इसके ऊपर हमारा कोई नियंत्रण नहीं होता। भौतिक जीवन तथा उसकी आवश्यकताओं-संबंधी सारे विचार इसी ढंग के होते हैं।

यह हमारी पहली कठिनाई है और इसपर हमें विजय प्राप्त करनी है। यदि हम सच्चे अर्थों में चिंतन करना चाहती हैं, दूसरे शब्दों में, यदि हम यथार्थ और सजीव विचार ग्रहण करना, उन्हें प्रकट करना या बनाना चाहती हैं तो सबसे पहले हमें अपने मस्तिष्क को इस उपद्रवी और बे-सिर-पैरवाले मानसिक उद्वेग से मुक्त करना पड़ेगा और यह कोई आसान काम नहीं है। दिमाग की यह मूढ़ हलचल हमपर शासन करती है, यह हमारे अधीन नहीं है।

इस हलचल को दूर करने के लिये एक उपाय बताया जा सकता है,–ध्यान। परंतु जैसा कि मैंने आपसे पिछली बार भी कहा था, ध्यान करने के कई तरीके हैं। कुछ अधिक उपयोगी हैं और कुछ कम। प्रत्येक को जांचकर अपना तरीका ढूंढ़ लेना चाहिये। पर एक बात सब कर सकते हैं–मनन अर्थात् एकाग्रता का अभ्यास। इसका अर्थ है एकांत, नीरवता में आत्मचिंतन करना, उन सैंकड़ों झुंड के झुंड हलके, तुच्छ विचारों का निकट से और कठोरतापूर्वक विश्लेषण करना जो हमें प्रतिक्षण विक्षुब्ध करते रहते हैं।

ध्यान की यह पहली सीढ़ी है। यदि हम प्रतिदिन कुछ क्षण इस अभ्यास में लगाने लगें तो एक बात का हमें बहुत ख्याल रखना होगा। जहां तक संभव हो अपने वेदनों, भावों तथा चित्त-स्थितियों के बारे में हमें उदार नहीं बनना चाहिये।

हम सबमें अपने आपके लिये ममत्व का अक्षय भंडार संचित है। और अक्सर हम अपनी छोटी छोटी आंतरिक गतिविधियों के प्रति बड़ा सम्मान दिखाते हैं और उनको इतना महत्त्व दे देते हैं जितना उनका होता नहीं, हमारे अपने विकास के लिये भी नहीं।

जब मनुष्य अपने ऊपर इतनी विजय प्राप्त कर ले कि वह अपनी चित्तवृत्तियों का ठंडे भाव में विश्लेषण कर सके, उनकी छान-बीन कर सके, उनकी ऊपरी तड़क-भड़क या दुःखदायी झलक को अलग करके उन्हें अपने असली क्षुद्र रूप में देख सके तब वह उनका कुछ उपयोगी अध्ययन कर सकेगा। पर यह अवस्था बहुत धीरे धीरे आती है, जब कि मनुष्य पूर्ण निष्पक्ष भाव में काफी सोच-विचार कर चुकता है। इसमें साधारणतया जो गड़बड़ हो जाती है उससे बचने के लिये मैं यहां एक बात कहती हूं।

मैंने अभी कहा था कि हम अपने विषय में बड़े उदार विचार रखते हैं। हमारे दोष भी प्रायः हमें आकर्षक प्रतीत होते हैं, अपनी सब कमजोरियों को हम उचित ठहराते हैं। परंतु सत्य यह है कि आत्मविश्वास की कमी से ही हम ऐसा करते हैं। क्या आपको इससे आश्चर्य होता है? हां, मैं फिर कहती हूं, हममें आत्मविश्वास की भारी कमी है। यह कमी उसमें नहीं जो कि हम अब हैं और न ही यह हमारी बाह्य सत्ता में है जो क्षणिक और सदा परिवर्तनशील है। यह तो हमें सदा लुभावनी लगती है। हमारा विश्वास उस पूर्ण और गहन रूपांतर में नहीं है जो हमारी सच्ची सत्ता का, उस अमर अविनाशी भगवान् का कार्य होगा जो सब जीवों में निवास करता है। और यह कार्य तभी होगा जब हम अपने आपको बालक की भांति उसके अनंत ज्योतिर्मय पथप्रदर्शन पर छोड़ देंगे। उसकी सूझ-बूझ हमसे बहुत बड़ी है।

पर यहां विश्वास और ममत्व को मिला देना ठीक न होगा। अच्छा, तो मैं फिर अपने विषय पर आती हूं।

जब आप विधिपूर्वक और बार बार के अभ्यास द्वारा असंबद्ध और दुःखदायी विचारों के प्रवाह से अलग हटकर उसे साक्षिरूप में देख सकने में सफल हो जायंगी तो आपको एक नई वस्तु दिखाई पड़ेगी।

आप देखेंगी कि आपके अंदर कुछ विचार ऐसे हैं जो औरों से अधिक प्रबल, अधिक स्थायी हैं–ऐसे विचार जिनका संबंध सामाजिक रूढ़ियों, प्रचलित रीतियों, नैतिक नियमों, यहां तक कि मनुष्य तथा संसार पर लागू साधारण नियमों से है।

ये विचार ही इन विषयों पर आपकी सम्मतियां हैं, कम से कम आप ऐसा ही मानती हैं

और इन्हीं के अनुसार काम करने की चेष्टा भी करती हैं।

इनमेंसे आप एक विचार ले लीजिये जो आपके सबसे अधिक निकट है। इसका आप ध्यानपूर्वक पूरी सच्चाई के साथ निरीक्षण कीजिये, यथासंभव सब पक्षपात परे हटाकर। अब अपने आपसे प्रश्न कीजिये कि इस विषय में आपका यही मत क्यों है, दूसरा क्यों नहीं।

इसका उत्तर लगभग सभी अवस्थाओं में यही या इससे मिलता-जुलता होगा :

क्योंकि आपके समाज में यही विचार प्रचलित है, आपको भी इसी को बनाये रखना उचित है और इससे आप कई प्रकार की ठोकरों, मुठभेड़ों और अप्रिय आलोचनाओं से बच जाती हैं। या फिर यह कि यही विचार आपके माता-पिता का भी था और इसी के वातावरण में आप पली हैं।

या फिर यह भी हो सकता है कि यह आपकी उस धार्मिक या अन्य शिक्षा का फल है जो आपको तरुणावस्था में मिली है। यह विचार आपका अपना तो नहीं है।

आपका अपना विचार होने के लिये इसे आपके बौद्धिक संश्लेषण का अंग होना चाहिये जो आपके अपने जीवनकाल में ही यत्नपूर्वक निर्मित हुआ हो, चाहे वह निरीक्षण, परीक्षण, अनुभव या तर्क द्वारा रचा गया हो या फिर वह गहन गंभीर चिंतन या मनन का फल हो।

यह हमारी दूसरी उपलब्धि होगी।

क्योंकि हममें सद्भावना है और हम अपने में पूर्ण सच्चाई लाने की कोशिश कर रही हैं अर्थात् अपने कर्मों को विचारों के अनुकूल बनाना चाह रही हैं, हमें यह मानना पड़ेगा कि हम साधारणतया उन मनगढ़ंत नियमों के अनुसार कार्य करती हैं जिन्हें हमने बाहर से ग्रहण किया है। हमने न तो इनको इच्छापूर्वक सचेतन रूप में और न ही परिपक्व सोच-विचार या विश्लेषण करने के बाद अपनाया है। ये हमारे इसलिये हैं क्योंकि हम अचेतन अवस्था में पीढ़ियों से इनके अधिकार में चली आ रही हैं। इसमें कुछ हाथ हमारी शिक्षा-दीक्षा का भी है, पर सबसे अधिक प्रभाव हमपर सामूहिक प्रेरणा का है जो अपने आपमें इतनी शक्तिशाली, इतनी उद्दाम है कि बहुत कम लोग इससे बच निकलने में सफल होते हैं।

जो मानसिक व्यक्तित्व हम प्राप्त करना चाहती हैं उससे हम कितनी दूर हैं!

हम तो अपने पूर्व-संस्कारों की उपजमात्र हैं, अपने साथ रहनेवालों की अंध और उद्दाम इच्छाओं द्वारा विवश की गई हैं।

कैसी दुःखजनक अवस्था है यह! पर इससे हमें अधीर नहीं हो जाना चाहिये। हमें अधिक उत्साह से इसके प्रतिकार में लग जाना चाहिये। जितनी प्रचंड यह बुराई है उतना आवश्यक इसका उपचार भी है।

ढंग वही होगा : सोचो, सोचो और खूब सोचो।

इन विचारों में से एक एक को लेकर हमें बारी बारी से उसका विश्लेषण करना चाहिये। ऐसा करते समय यह आवश्यक है कि हम अपने समस्त विवेक, पूर्ण शुद्ध भाव तथा अधिक से अधिक न्यायबुद्धि की सहायता लें। विचारों को हमें अपने अर्जित ज्ञान और संगृहीत अनुभव की तराजू पर तोलना चाहिये। इसके बाद हमारा प्रयत्न यह होना चाहिये कि हम इनमें अनुकूलता लाकर सामंजस्य स्थापित कर दें। पर यह कार्य अधिकतर कठिन होगा, क्योंकि हमारे अंदर की एक शोचनीय प्रवृत्ति के फलस्वरूप हमारे मस्तिष्क में कई प्रकार के अत्यंत विरोधी विचार साथ साथ रहते हैं।

हमें इन सबको क्रमानुसार अपने अपने स्थान पर रखना होगा, अपने मनरूपी घर में व्यवस्था स्थापित करनी होगी और यह सफाई हमें प्रतिदिन उसी प्रकार करनी चाहिये जिस प्रकार हम अपने रहने के कमरे की करते हैं। मेरे ख्याल में अपने मन की ओर भी हमें उतना ही ध्यान देने की आवश्यकता है जितना कि हम अपने घर की ओर देते हैं।

परंतु इस काम को यथार्थ रूप में सफल बनाने के लिये मैं फिर कहती हूं, यह आवश्यक है कि हम अपनी उच्चतम आंतरिक अवस्था को अधिकतम अचंचल और सच्ची बनाये रखने के लिये, जिससे वह हमारी ही हो जाय, पूरा पूरा यत्न करें।

हम इतने निर्मल हो जायं कि जिन विचारों का हमें निरीक्षण, विश्लेषण तथा वर्गीकरण करना है वे हमारे अंदर की ज्योति से पूर्णतया प्रकाशित हो उठें। अपनी छोटी छोटी इच्छाओं तथा व्यक्तिगत सुविधाओं का त्याग करने के लिये हम निष्पक्ष और साहसी बनें। हम सर्वथा पक्षपातरहित होकर विचारों का, अपने आपमें, उन्हीं के लिये, अवलोकन करें।

यदि हम अपने इस वर्गीकरण के कार्य में धीरतापूर्वक लगे रहेंगे तो हम देखेंगे कि हमारे मस्तिष्क में धीरे धीरे व्यवस्था और प्रकाश का साम्राज्य स्थापित होता जा रहा है पर हमें यह नहीं भल जाना चाहिये कि यह व्यवस्था उस व्यवस्था के सामने विश्रृंखलता ही है जो भविष्य में हमें प्राप्त करनी है, यह प्रकाश उस प्रकाश के सामने, जो हमें कुछ समय बाद प्राप्त होगा, केवल अंधकार है।

जीवन एक अनवरत क्रमविकास है। यदि हम अपनी मनोवस्था को सजीव रखना चाहते हैं तो हमें बिना रुके उन्नति के पथ पर बढ़ते चले जाना चाहिये।

वैसे है यह कार्य अपने आपमें अभी प्रारंभिक ही। हम अभी उस सत्य विचार से दूर हैं जो ज्ञान के अनंत स्रोतों के साथ हमारा संबंध स्थापित करता है। ये सब तो हमें अपने विचारों पर व्यक्तिगत रूप से नियंत्रण रखना सिखाने के लिये अभ्यासमात्र हैं, क्योंकि जो मनुष्य ध्यान या चिंतन करना चाहते हैं उनके लिये अपनी मानसिक क्रिया को वश में रखना अत्यंत आवश्यक है।

मैं ध्यान के बारे में आज आप लोगों को विस्तारपूर्वक तो नहीं बता सकती। मैं केवल इतना कहूंगी कि ध्यान तभी वास्तविक ध्यान होता है और तभी उससे पूरा लाभ प्राप्त होता है जब कि वह सच्चे अर्थों में निःस्वार्थ तथा निर्वैयक्तिक होता है।

हिंदुओं की एक प्राचीन पुस्तक में से मैं एक विशेष प्रकार के ध्यान का दृष्टांत देती हूं :

एक महाप्रतापी राजा अपने बृहत्तर संग्रहालय को देखने के लिये चला। देहली पर पैर रखते ही वह रुक गया और भावावेश में चिल्ला उठा :

"ठहरो लोभ के विचारो, द्वेष के विचारो, और आगे मत बढ़ो! रुक जाओ, घृणा के विचारो, एक पग भी अब आगे मत रखना।"

तब वह कमरे के अंदर प्रविष्ट हुआ और एक सोने की चौकी पर बैठ गया। जब वह अपनी सब वासनाओं तथा सत्यविरोधी भावनाओं का त्याग कर चुका तो उसे प्रथम 'धाम' की प्राप्ति हुई। यह आनंद और विश्राम की वह अवस्था थी जो एकांतसेवन से प्राप्त होती है—यह मनन और जिज्ञासा की अवस्था थी।

मनन और जिज्ञासा की इस अवस्था को जब वह पार कर चुका तो उसे द्वितीय धाम की प्राप्ति हुई। यह अवस्था उस आनंद और विश्राम की थी जो अविचलता से प्राप्त होते

हैं। इसमें अब मनन और जिज्ञासा नहीं थे। इसमें थी निश्चलनीरवता और आत्मा की उत्कृष्टता।

इस आनंद का उपभोग करना छोड़कर वह विरक्त, चेतन और आत्मविजयी हो गया और उसे तृतीय 'धाम' की प्राप्ति हुई। इस समय उसे उस आत्मप्रसाद का अनुभव हुआ जिसके विषय में संत लोग कहते हैं: "जो आत्मविजयी है, जिसका निवास विरक्ति में है उसी को यह अभूतपूर्व आनंद प्राप्त होता है।"

इस आनंद को भी एक ओर रखके, दुःखमात्र का त्याग करके जब वह हर्षशोकरूपी द्वंद्वों से मुक्त हो गया तो उसे उस अवस्था की प्राप्ति हुई जिसमें आवश्यक रूप से अपने ऊपर एक पूर्ण सत्य प्रभुत्व तथा सौम्यता प्राप्त हो जाती है–यह चतुर्थ 'धाम' था।

इसके अनंतर वह प्रतापशाली राजा उस महान् संग्रहालय से बाहर निकला और स्वर्ण प्रासाद की ओर चला। अंदर जाकर वह एक चांदी की चौकी पर बैठ गया। उसने संसार की ओर प्रेमपूर्ण भाव में देखा और उसका प्रेम बारी बारी से चारों दिशाओं में छा गया। फिर प्रेम से भरे हृदय से–ऐसे प्रेम से जो निरंतर अपरिमित रूप में बढ़ता चला जाता था–उसने इस विशाल संसार को पूर्ण रूप से–इसकी अंतिम सीमा तक–अपने अंदर समेट लिया।

उसने संसार की ओर अपनी करुणामय दृष्टि उठाई और उसकी करुणा क्रमशः चारों ओर व्याप गई। फिर करुणा से ओतप्रोत हृदय से–ऐसी करुणा से जो नित्यप्रति उद्दाम वेग से बढ़ रही थी–उसने इस बड़े संसार को पूर्णतया–इसके अंतिम छोर तक–अपने अंदर धारण कर लिया।

राजा ने सहानुभूति के भाव में संसार की ओर निहारा और उसकी सहानुभति धीरे धीरे चारों लोकों में व्याप्त हो गई। सहानुभूति से पूर्ण हृदय को लेकर–ऐसी सहानुभूति से जो निरंतर अपरिमित मात्रा में बढ़ती जा रही थी–उसने इस बृहत् जगत् को–पूरे के पूरे को–अपने अंदर समा लिया।

अब राजा ने अपनी प्रशांत दृष्टि संसार की ओर उठाई और उसकी प्रशांति शनैः शनैः चारों ओर व्याप गई। फिर प्रशांति से पूर्ण हृदय को लेकर–ऐसी प्रशांति से जो निरंतर अपरिमित मात्रा में बढ़ रही थी–उसने इस विशाल जगत् को पूर्ण रूप से अपने अंदर समेट लिया।

जो व्यक्ति सत्य की खोज के लिये सच्चे भाव में प्रयत्न करता है, जो पूर्ण सत्य के अधिकाधिक निकट पहुंचने के लिये–उस सत्य के जो असीम उन्नति के पथ पर चलते हुए जगत् के विकासशील ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है–आवश्यकता पड़ने पर उस सबका त्याग करने को प्रस्तुत रहता है जिसे अब तक वह सत्य मानता आया है, वही धीरे धीरे गहनतम, पूर्णतम तथा अनंत प्रकाशमय विचार-समूहों के साथ अपना संबंध स्थापित कर सकता है।

ध्यान और चिंतन की सहायता से जब वह सच्ची बौद्धिक शक्ति की महान् संसारव्यापी लहर के सीधे संपर्क में आ जाता है तब कोई ज्ञान उससे छुपा नहीं रहता।

अविचलता के साथ साथ अब मानसिक शांति भी उसके हिस्से में आ जाती है। अपने समस्त मानवी ज्ञान, अपनी सब धारणाओं और धार्मिक शिक्षाओं के बीच में–जो कभी कभी आपस में बहुत विरोधी प्रतीत होती हैं–वह उस गूढ़ सत्य को देख लेता है जिसको तब कोई

शक्ति उसकी दृष्टि से और अधिक ओझल नहीं रख सकती।

भूलें और अज्ञानवश किये गये कार्य भी उसे तब क्षुब्ध नहीं करते, जैसा कि एक महापुरुष ने कहा है: "जो सत्य के पथ पर बढ़ रहा है उसे कोई भूल कष्ट नहीं पहुंचा सकती, क्योंकि वह जानता है कि यह भूल सत्य पथ पर अग्रसर होनेवाले जीवन का प्रथम प्रयास है।"

परंतु पूर्ण अविचलता की इस स्थिति को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को विचार के उच्चतम शिखर तक पहुंचना होगा। वहां तक इतनी जल्दी पहुंचने की आशा न करके भी हमें इसके लिये तो प्रयत्न करना ही है कि हम व्यक्तिगत रूप से मौलिक तथा साथ ही साथ जितना संभव हो न्याययुक्त विचार करना सीखें। तब हम एक प्रकार से उन मनीषियों की श्रेणी में आ जायंगे जो समाज को अपने उच्चतम सहज ज्ञान की अमूल्य सहायता पहुंचाने के योग्य होते हैं।

आज मैंने विचार के विषय में कई बार इस प्रकार से बातचीत की है मानों वह एक सजीव और सक्रिय सत्ता हो। इसकी थोड़ी व्याख्या करने की आवश्यकता है। मैं अगली बैठक में, यदि हो सका तो वैज्ञानिक ढंग से, यह बताने का यत्न करूंगी कि इसकी भीतरी बनावट, रचना आदि क्या है, यह कैसे उत्पन्न होता है, जीवित रहता है, कार्य करता तथा परिवर्तित होता है।

अपना कथन समाप्त करने से पहले मैं आपसे अपनी एक अभिलाषा प्रकट करने की आज्ञा अवश्य चाहती हूं।

मैं चाहती हूं कि हम आज से यह निश्चय कर लें कि हम अपने आपको प्रतिदिन पूरी सच्चाई तथा सदिच्छा के साथ ऊपर उठायेंगी; एक तीव्र अभीप्सा के साथ उस सत्य के सूर्य की ओर, उस चरम प्रकाश की ओर बढ़ेंगी जो विश्व के बौद्धिक जीवन का स्रोत है, ताकि वह प्रकाश हमारे अंदर पूर्ण रूप से प्रवेश पाकर अपनी महान् ज्योति से हमारे मन और हृदय को तथा हमारे सब विचारों और कर्मों को उजागर कर दे।

तभी हमें प्राचीन काल के एक महान् गुरु के निर्देश का अनुसरण करने का अधिकार तथा गौरव प्राप्त होगा। वे कहते हैं:

"करुणा से उमड़ते हुए हृदयों को लेकर इस घोर दुःखमय संसार में प्रवेश करो। शिक्षक बनो और जहां जहां अंधकार और अज्ञान का साम्राज्य है वहां वहां ज्ञान का दीपक जला दो।"

स्वप्न

प्रथम दृष्टि में स्वप्न का विषय नितांत गौण प्रतीत होता है। हमारी जाग्रत्-अवस्था की तुलना में स्वप्नावस्था साधारणतया कम ही महत्त्व रखती है।

पर इस प्रश्न को जरा अधिक निकट रूप में देखने से हमें पता चलेगा कि बात ऐसी नहीं है।

पहले तो हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि हमारे जीवन का एक तिहाई से अधिक भाग

सोने में व्यतीत होता है। फलस्वरूप इस भौतिक निद्रा में लगे हुए समय की ओर हमें ध्यान देना ही चाहिये।

मैंने इसे भौतिक निद्रा कहा है क्योंकि हमारा यह विचार कि जब हमारा शरीर सोता है तो हमारी पूर्ण सत्ता भी सो रही होती है गलत है।

बीस वर्ष के लगभग हुए डा. वाशिद नाम के एक विद्वान् ने "निद्रा और स्वप्न" नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की थी। इसमें दृढ़ वैज्ञानिक ढंग के आधार पर किये गये अनेक प्रयोगों का परिणाम दिया है।

जिन डाक्टरों ने ये प्रयोग किये थे वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि मनुष्य की मानसिक क्रिया वस्तुतः कभी भी बंद नहीं होती, और यही क्रिया थोड़े-बहुत अस्त-व्यस्त रूप में हमारे मस्तिष्क में स्वप्न के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार, चाहे हम इसके बारे में सचेत हों या न हों, हमें सदा ही स्वप्न आते हैं।

इस क्रिया को पूरी तरह से वश में कर सकना और बिना स्वप्न की पूर्ण निद्रा में सोना संभव अवश्य है, पर जिस प्रकार हम शरीर को विश्राम देते हैं उसी प्रकार मन को भी विश्राम देने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसपर अपना पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करें, और यह कार्य कोई आसान नहीं है।

प्रायः करके तो यह क्रिया निद्रा में और भी अधिक वेगवती हो जाती है, क्योंकि निद्रा के कारण आंतरिक क्रियाएं शरीर पर केंद्रित नहीं होतीं और न उस द्वारा प्रयोग में लाई जा रही होती हैं।

कई तो कहते हैं कि निद्रा में ही मनुष्य अपना असली स्वरूप जान सकता है।

होता प्रायः यह है कि हमारी वेदनशील सत्ता (sensational being) दिन में हमारी सक्रिय चित्तशक्ति के इतनी वश में होती है कि रात में उस बंधन के हटते ही वह दुगने वेग से प्रतिक्रिया करने लगती है।

हमारी सब इच्छाएं, जो बिना समाप्त हुए दबा दी जाती हैं, वे रात में जब चित्तशक्ति सुप्त अवस्था में होती है अपने आपको पूरा करने का प्रयत्न करती हैं। कोई इच्छा समाप्त हो गई है या नहीं यह जानना बड़ा कठिन है। पूरी सच्चाई के साथ अनेक विश्लेषण करने के बाद ही यह निश्चय हो सकता है कि कोई इच्छा वास्तव में समाप्त हो गई है या नहीं।

क्योंकि इच्छाएं निर्माण के वास्तविक शक्तिशाली केंद्र हैं, ये हमारे अंदर और हमारे चारों ओर ऐसी अनुकूल परिस्थितियां जुटा देती हैं जो उन्हें पूर्ण करने में अधिक से अधिक सहायक होती हैं।

इस प्रकार दिन में सचेतन विचारों द्वारा जो परिश्रम किया जाता है उसमेंसे अधिकांश का फल रात के कुछ घंटों में ही नष्ट हो जाता है।

हमारी उन्नति करने की इच्छा को जिस बाधा का सामना करना पड़ता है उसका यह एक प्रधान कारण है। यही उन कठिनाइयों का कारण है जो कभी कभी पहाड़ सी प्रतीत होने लगती हैं। हमें अपनी शुभेच्छा इतनी पूर्ण प्रतीत होती है कि हम इन्हें समझ भी नहीं सकते।

इसलिये हमें अपने स्वप्नों को जानना सीखना चाहिये और सबसे पहले तो उनमें भेद करना जानना चाहिये क्योंकि वे विभिन्न स्वभाव और गुण के होते हैं। कई बार तो एक

ही रात्रि में हमें भिन्न भिन्न प्रकार के स्वप्न आते हैं और यह हमारी निद्रा की गहराई पर निर्भर करता है।

अपने स्वप्नों के संबंध में साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति का रात में एक विशेष समय होता है जब उसकी क्रिया अधिक फलवती, अधिक मेधाविनी होती है। जिन मानसिक परिस्थितियों में वह विचरण करता है वे भी अधिक रोचक होती हैं।

बहुत से स्वप्न तो भौतिक मस्तिष्क की निर्बाध और यंत्रसम क्रिया के परिणाम होते हैं और उनका इससे अधिक कुछ महत्त्व नहीं होता। मस्तिष्क के कोषाणु ऐसे उत्पादक यंत्रों की तरह अपना काम निद्रा में चालू रखते हैं जो बाहर से प्राप्त प्रभावों के अनुरूप वेदनों और आकृतियों को गढ़ते रहते हैं।

ऐसे स्वप्न प्रायः सदैव भौतिक कारणों, जैसे स्वास्थ्य की दशा, पाचन, बिस्तर पर लेटने की अवस्था आदि से निर्धारित होते हैं।

थोड़े आत्म-निरीक्षण और व्यवहार की सावधानी से इनके कारणों को दूर करके मनुष्य इन स्वप्नों को, जो कि थकान भी पैदा करते हैं और अनुपयोगी भी होते हैं, आसानी से हटा सकता है।

एक और प्रकार के भी स्वप्न होते हैं जो मन की कुछ शक्तियों की चंचल चेष्टाएं तथा तुच्छ अभिव्यंजनामात्र होते हैं। इनमें विचार, बातचीत के प्रसंग और स्मृतियां संयोगवश इकट्ठे हो जाते हैं।

इस प्रकार के स्वप्नों का महत्त्व अधिक है, क्योंकि यह उच्छृंखल क्रिया हमारी मानसिक प्रवृत्तियों की अव्यवस्था दिखाती है जब कि हमारी चित्तशक्ति का नियंत्रण वहां नहीं रहता। इससे हमें पता चलता है कि इस सत्ता में अभी तक संगठन और क्रम स्थापित नहीं हुआ है और न ही यह अभी स्वायत्त जीवन के लिये तैयार है।

मैं अभी कुछ ऐसे स्वप्नों के बारे में बताऊंगी जो स्वरूप में तो इन्हीं से मिलते-जुलते हैं पर प्रभाव में इनसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनका उद्गम हमारी उस आंतरिक सत्ता की प्रतिक्रिया में है जो कुछ क्षणों के लिये हमारे उसपर लगाये हुए प्रतिबंध से मुक्त हो जाती है। जो प्रवृत्तियां, रुचियां, आतुर गतियां और इच्छाएं हमारी सत्ता की किसी अंधेरी गुफा में छुपी पड़ी हैं और जिन्हें हम तब तक नहीं जान पाते जब तक हमारी लक्ष्यसंबंधी इच्छा-शक्ति उन्हें नीचे दबाये रखती है, वे इन स्वप्नों द्वारा प्रकाश में आ जाती हैं।

यह स्पष्ट ही है कि इन्हें इस प्रकार अज्ञात स्थिति में पड़े रहने देना ठीक नहीं है। इनको निर्भयता और साहसपूर्वक बाहर खींचकर दिन के प्रकाश में ले आना और हमें निश्चित रूप से छोड़ देने के लिये इन्हें बाधित करना ही अधिक अच्छा है।

अतएव हमें बड़े ध्यानपूर्वक अपने स्वप्नों का निरीक्षण करना चाहिये। ये अक्सर बड़े उपयोगी शिक्षक साबित होते हैं क्योंकि ये हमें आत्मविजय के मार्ग पर अत्यंत सहायता पहुंचा सकते हैं।

कोई भी अपने आपको भली प्रकार नहीं जानता जब तक वह रात की अपनी इन निर्बाध गतिविधियों को नहीं जान लेता। और कोई व्यक्ति अपने आपको अपना स्वामी नहीं कह सकता जब तक वह उन विविध व्यापारों के विषय में, जो उसकी भौतिक निद्रा में होते हैं, पूर्ण रूप से सचेत नहीं हो जाता और उनपर स्वामित्व नहीं प्राप्त कर लेता।

पर ये स्वप्न हमारी दुर्बलताओं के स्पष्ट संकेत और उन्नति के लिये किये गये हमारे दैनिक प्रयत्नों के दुष्ट विनाशकमात्र ही नहीं हैं।

एक ओर यदि ऐसे स्वप्न हैं जिनके साथ हमें युद्ध करना है, या जिनका रूपांतर करना है तो दूसरी ओर ऐसे भी हैं जिनको विकसित करने की जरूरत है, क्योंकि ये हमारे अंदर के तथा चारों ओर के कार्य को अत्यंत उपयोगी सहायता पहुंचा सकते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि कई दृष्टियों से हमारा अवचेतन मन हमारे साधारण चेतन मन से कहीं अधिक ज्ञान रखता है।

इस बात का किसे अनुभव नहीं है कि जो दार्शनिक, नैतिक या व्यावहारिक प्रश्न शाम को सुलझाये नहीं सुलझता था–बल्कि असंभव सा प्रतीत होता था–प्रातः सोकर उठने के बाद बिलकुल स्पष्ट हो जाता है? यह मानसिक खोज नींद में चलती रही और इस प्रकार आंतरिक शक्तियां स्थूल व्यवस्था से मुक्त होकर केवल उसी विषय पर केंद्रित हो सकीं जिसमें उनकी रुचि थी।

अक्सर यह कार्य अवचेतन ही रहता है, केवल परिणाम ही अनुभव में आता है।

पर कभी कभी स्वप्न की सहायता से मनुष्य अपनी पूर्ण मानसिक क्रिया की सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधि में भी भाग लेता है। इस क्रिया की मस्तिष्क में जो प्रतिलिपि उतरती है वह प्रायः इतनी तुच्छ होती है कि हम साधारणतया उसकी ओर ध्यान नहीं देते।

इस दृष्टिकोण से यहां एक बात ध्यान देने योग्य है। हमारी यथार्थ मानसिक क्रिया में और उस रूप में जिसमें हम उसे देखते तथा स्मरण रखते हैं प्रायः सदैव बहुत विभिन्नता रहती है। अपने क्षेत्र में तो यह क्रिया स्वयं निर्धारित करती है कि कौनसे स्पंदन अपनी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा मस्तिष्क के कोषाणुओं तक भेजे जाने चाहियें, पर अतिभौतिक स्तर के ये सूक्ष्म स्पंदन हमारे निद्रित मस्तिष्क में बहुत कम कोषाणुओं के ऊपर अपना प्रभाव डाल सकते हैं। कारण, अधिकांश कोषाणुओं की जड़ता इन स्पंदनों के क्रियाशील तत्त्वों की संख्या को कम कर देती है तथा इनका मानसिक संघटन भी दुर्बल कर देती है। फलस्वरूप स्वप्न-क्रिया का वास्तविक स्वरूप तो सामने आता नहीं, हां, कुछ मानसिक चित्र अवश्य याद रहते हैं पर वे भी अधिकतर बड़े धुंधले और अनुपयुक्त होते हैं।

इस अंतर को अधिक स्पष्ट करने के लिये मैं एक उदाहरण यहां देती हूं। यह उन अनेक उदाहरणों में से एक है जो इस विषय पर मुझे ज्ञात हैं।

अभी कुछ दिन पहले की बात है। एक लेखक अपने एक अधूरे अध्याय को समाप्त करना चाहता था, परंतु वह उसे समाप्त न कर सका।

उसका मन जो इस लेखन-कार्य में विशेष रुचि रखता था रात में भी उसी में व्यस्त रहा। जो विचार विविध परिच्छेदों में प्रकट किये गये थे उन्हें घुमा-फिराकर सोचते हुए उसे ज्ञात हुआ कि न तो विचारों में ही कोई उपयुक्त क्रम है और न परिच्छेदों में, तथा उन्हें ठीक रूप देने के लिये उसका स्थान बदलना पड़ेगा।

इस सारे कार्य की प्रतिलिपि हमारे लेखक की चेतना में एक स्वप्न के रूप में इस प्रकार प्रकट हुई: वह अपने लिखने के कमरे में है, उसके सामने अनेक कुरसियां पड़ी हैं जिन्हें वह अभी वहां लाया है। वह उन्हें कभी इधर रखता है कभी उधर। जब तक एक एक कुरसी यथास्थान नहीं रख दी गई उसका यही क्रम चलता रहा।

इन अधूरी प्रतिलिपियों के ज्ञान में ही, जो कुछ को प्राप्त हो जाता है, उन सामान्य विश्वासों, उन 'स्वप्नों की कुंजियों' का, जो सीधे-सादे लोगों को इतनी प्रसन्नता देते हैं, मूल तथा आधार है।

परंतु यह समझना कुछ कठिन नहीं कि स्वप्नों की ये अधूरी प्रतिलिपियां प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग अलग रूप रखती हैं। प्रत्येक अपने अपने ढंग से इन्हें तोड़-मरोड़ लेता है।

फल यह होता है कि ऐसे अशुद्ध सिद्धांत जो अपने अर्थों के आधार पर बना लिये जाते हैं गंवारु और मूर्खतापूर्ण अंधविश्वासों को जन्म दे देते हैं, चाहे वे स्वयं उस मनुष्य के लिये बिलकुल ठीक हों।

यह तो ऐसे ही हुआ मानों उपर्युक्त लेखक अपने मित्रों और परिचितों को यह गुप्त शिक्षा देने लगे कि जब जब वे अपने आपको स्वप्न में कुरसियों को यथास्थान सजाते हुए देखें तब तब समझ लें कि अगले दिन उन्हें किसी पुस्तक के परिच्छेदों का क्रम उलटना है।

रात की क्रियाओं की जो प्रतिलिपि मस्तिष्क उतारता है वह कभी कभी इतनी विकृत हो जाती है कि वह वस्तुओं के यथार्थ रूप का उलट बन जाती है।

उदाहरणार्थ, जब एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के बारे में शत्रुतापूर्ण विचार रखता है और रात्रि में स्वतंत्र विचरण पाकर वह विचार पूरा जोर पकड़ लेता है तो वह स्वप्न में देखता है कि दूसरा व्यक्ति उसे मार रहा है, उसके साथ धोखा-चालाकी करता है, अथवा उसे घायल कर देता है या मार डालने की कोशिश करता है।

सामान्यतया स्वप्नों के अर्थ लगाने के लिये हमें बहुत बौद्धिक सावधानी बर्तनी चाहिये और कम से कम उन्हें कोई वस्तुभूत सत्ता देने से पहले हमें अपने अंदर से इच्छाजनित सब समाधान निकाल देने चाहियें।

पर ऐसे व्यक्ति भी जरूर हैं, विशेषकर उनमें जिन्होंने अपने विचार सदा अपनी ओर ही लगाये रखने की आदत छोड़ दी है, जो अपने से बाहर की घटनाओं को तटस्थ भाव में देख सकते हैं–ऐसी घटनाओं को जो व्यक्तिगत मन की रचनाएं नहीं हैं। यदि मनुष्य इन अपेक्षाकृत अधूरी मानसिक प्रतिलिपियों को, जिनमें मस्तिष्क इन घटनाओं को प्रस्तुत करता है, बौद्धिक भाषा में रूपांतरित कर सके तो वह ऐसे अनेक तथ्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकेगा जिनका ज्ञान उसकी अत्यंत सीमित भौतिक शक्तियां प्राप्त नहीं कर सकतीं।

कई व्यक्ति तो विशेष संस्कृति और शिक्षा की कृपा से इस योग्य होते हैं कि मस्तिष्क की इन प्रतिलिपियों की सहायता के बिना भी वे अपनी आंतरिक सत्ता की गहनतर क्रियाओं को जान सकते हैं तथा उनसे सचेत रह सकते हैं और इस प्रकार वे उन्हें उनके पूर्ण भाव में, जाग्रत् अवस्था में, इच्छानुसार प्राप्त कर सकते हैं तथा जान सकते हैं।

इस विषय पर अनगिनत मनोरंजक प्रमाण दिये जा सकते हैं, परंतु अच्छा होगा कि हर एक स्वयं परीक्षण द्वारा इन अनेक संभावनाओं को जाने। इन्हें जानना मानव की शक्ति में है तथा ये जीवन के ऐसे क्षेत्र से संबद्ध हैं जो प्रायः खाली ही पड़ा रहता है।

बिना जोती-बोई भूमि में झाड़-झंखाड़ उग ही आते हैं। हम अपने अंदर ऐसे झाड़-झंखाड़ नहीं चाहते। अतएव अपनी रातों की विस्तृत भूमि को हमें जोतना तथा संस्कृत करना चाहिये।

यह मत सोचो कि यह कार्य हमारी निद्रा की गहराई में या हमारे विश्राम में, जो लाभ-

प्रद होने के साथ साथ हमारे लिये अनिवार्य भी है, बाधा पहुंचायेगा। इसके विपरीत अनेक व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें रातें दिनों से अधिक थका देती हैं; और इसका कारण प्रायः उनकी दृष्टि से छूट जाता है। ये कारण उन्हें समझने चाहियें, तभी उनकी इच्छाशक्ति उन कारणों पर कार्य कर सकेगी तथा उनके परिणामों को दूर कर सकेगी, दूसरे शब्दों में उन चेष्टाओं को रोक देगी, जो ऐसी स्थितियों में व्यर्थ और हानिकारक होंती हैं।

यदि हमारी रात्रि हमें किसी नए ज्ञान की प्राप्ति करा दे, किसी गहन समस्या का हल करा दे, हमारी आंतरिक सत्ता का किसी जीवन के केंद्र या प्रकाश के साथ संबंध जोड़ दे या कोई उपयोगी कार्य ही सिद्ध कर दे तो हम उठने पर सदा ही एक शक्ति तथा विश्रांति का भाव अनुभव करेंगे।

जो समय हम बिना कुछ उपयोगी और अच्छा काम किये बिताते हैं केवल वही हमें सबसे अधिक थकाता है।

पर इस क्रिया-क्षेत्र को कैसे संस्कृत किया जाय? रात्रि की इन गतिविधियों का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाय?

इसका ढंग हमें आंतरिक जीवन के विषय पर लिखी हुई किसी भी पुस्तक में थोड़े ही शब्दों में मिल जायगा।

'एकाग्रता' का जो अभ्यास मनुष्य को अपनी जाग्रत् अवस्था की गतिविधियों का ज्ञान प्राप्त करा देता है, वही उसे निद्रावस्था की उन भिन्न भिन्न स्थितियों का, जो जाग्रत् अवस्था की क्रियाओं से अधिक समृद्ध हैं, ज्ञान कराने के साधन भी उपस्थित करता है।

साधारणतया निद्रित अवस्था की क्रियाएं अपने पीछे केवल अधूरी और धूमिल सी स्मृतियां छोड़ जाती हैं।

पर कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि जिस लंबे स्वप्न की पहले जरा भी स्मृति नहीं थी वही किसी आकस्मिक घटना, किसी बाह्य संस्कार या किसी शब्द से पूरे का पूरा सामने आ जाता है।

इस सामान्य बात से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हमारी चेतन क्रिया निद्रावस्था के व्यापारों में बहुत कम भाग लेती है क्योंकि साधारणतया ये व्यापार निम्न चेतना के स्मृति-गर्भ में ही खोये रहते हैं।

इस क्षेत्र में एकाग्रता के अभ्यास से यह विशेष स्मरणशक्ति बढ़नी चाहिये, साथ ही चेतना की निद्रावस्था की गतिविधियों में भाग लेने की सामर्थ्य भी विकसित होनी चाहिये।

जो व्यक्ति अपने किसी भूले हुए स्वप्न को याद करना चाहता है उसे सबसे पहले अपना ध्यान उन धुंधले प्रभावों पर केंद्रित करना चाहिये जिन्हें वह स्वप्न अपने पीछे छोड़ जाता है, और फिर जहां तक हो सके उन्हीं अस्पष्ट चिह्नों के सहारे आगे बढ़ना चाहिये।

इसका नियमपूर्वक अभ्यास मनुष्य को चेतना की उस अंधकारमय गुहा में दिन प्रतिदिन आगे की ओर ले जायगा जहां निद्रा के विस्मृत तथ्य छुपे पड़ हैं और इस प्रकार दोनों चेतनाओं के बीच एक सुगम रास्ता बन जायगा।

इस संबंध में यह कह देना उपयोगी होगा कि भूलने का कारण प्रायः यह होता है कि हम झटके से जाग्रत् अवस्था में लौटते हैं। (अतः झटके से मत जागो।)

वस्तुतः इस तरह चेतना-क्षेत्र में कुछ नई क्रियाएं घुस आती हैं जो अपने से भिन्न सब

वस्तुओं को बलपूर्वक बाहर निकाल देती हैं तथा उन्हें दुबारा याद करने के लिये जिस एकाग्रता की आवश्यकता होती है उसके कार्य को अधिक कठिन बना देती हैं। उसके विपरीत यदि एक अवस्था से दूसरी अवस्था में शांतिपूर्वक आने के लिये कुछ मानसिक और साथ ही कुछ शारीरिक सावधानी भी बरती जाय तो यह काम आसान हो जायगा। (यदि संभव हो तो उठने से पहले बिस्तर पर व्यर्थ में उतावले ढंग की हलचल भी नहीं करनी चाहिये।)

पर स्मरणशक्ति का यह विशेष अभ्यास केवल उन्हीं वस्तुओं को जाग्रत् अवस्था की चेतना में ला सकेगा जो निद्रा में पहले चेतन थीं, चाहे कितनी भी कम चेतन क्यों न हों, क्योंकि जहां चेतना नहीं वहां स्मृति भी नहीं हो सकती।

इसलिये मनुष्य का दूसरा काम है निद्रावस्था की अधिक से अधिक गतिविधियों में चेतना का प्रसार करना।

इसके लिये रात के विभिन्न स्वप्नों में रुचि रखने तथा उन्हें दोहराने का दैनिक अभ्यास बहुत उपयोगी हो सकता है। इससे स्वप्नों के अवशेष थोड़ा थोड़ा करके समुचित स्मृतियों में परिवर्तित हो जायंगे। जागने पर इन्हें लिख लेना भी उपयोगी रहता है।

इन अभ्यासों के द्वारा मानसिक शक्तियों की क्रिया इस श्रेणी की घटनाओं के उपयुक्त बन जायगी और वे शक्तियां अपना ध्यान, अपनी खोज तथा विश्लेषण-शक्ति उनपर प्रयुक्त करने लगेंगी।

तब स्वप्न में एक प्रकार का बौद्धिक परिवर्तन आ जायगा जिसका दोहरा फल होगा। चेतनावस्था की क्रियाएं निद्रावस्था की क्रियाओं की उस क्रीड़ा में अधिकाधिक घनिष्ठ रूप से भाग लेने लगेंगी जिसमें अब तक कोई क्रम नहीं था और इन्हें अधिकाधिक युक्तियुक्त और शिक्षाप्रद बनाकर इनका क्षेत्र उत्तरोत्तर विस्तृत कर देंगी।

तब स्वप्न यथाथ अंतर्दर्शन और सत्य-अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण कर लेंगे जिसके फल-स्वरूप आग को महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की एक संपूर्ण व्यवस्था का उपयोगी ज्ञान प्राप्त करना संभव हो जायगा।

दुःख झेलना जानो

यदि किसी समय तुम्हें कोई गंभीर शोक, तीव्र संशय या कोई दारुण कष्ट हताश और अभिभूत कर दे, तो शांति और स्थिरता को पुनः प्राप्त करने का एक अचूक साधन भी है।

हमारी सत्ता की गहराई में एक ज्योति प्रकाशित हो रही है जो जितनी प्रकाशमयी है उतनी ही पवित्र भी है, एक ऐसी ज्योति जो सर्वव्यापक भगवान् का सजीव और चेतन अंश है, जो जड़ पदार्थ को जीवन, उष्णता और प्रकाश प्रदान करती है। यह उन लोगों की एक सबल और अचूक पथप्रदर्शिका है जो इस विधान को जानने की इच्छा रखते हैं, उनकी आश्वासक और प्रेमपूर्ण सहायक है जो इसे देखना चाहते हैं, इसकी आवाज सुनना चाहते हैं तथा इसके आदेश का पालन करना चाहते हैं। इसके लिये की गई कोई भी सच्ची और स्थायी अभीप्सा व्यर्थ नहीं जा सकती, कोई भी दृढ़ और आदरपूर्ण विश्वास निराश नहीं हो सकता, कोई आशा भंग नहीं हो सकती।

मेरे हृदय ने भी दुःख झेला है तथा आर्त पुकार की है, दुःख के भारी बोझ से वह

टूटनेवाला था, अत्यधिक दारुण कष्ट से वह बैठनेवाला था....पर मैंने तुझे पुकारा, ओ दिव्य शांतिदायक, मैंने बड़े उत्कंठित भाव में तुझसे प्रार्थना की और तब तेरे उज्ज्वल प्रकाश का वैभव प्रकट हुआ और उसने मुझे पुनः जीवन-दान दिया।

जब तेरे प्रताप की किरणों ने मेरी संपूर्ण सत्ता के भीतर प्रवेश करके उसे प्रकाशित कर दिया, तो मैंने स्पष्ट रूप से देखा कि मुझे किस मार्ग का अनुसरण करना है तथा दुःख की क्या उपयोगिता हो सकती है। मैं समझ गई हूं कि जिस दुःख ने मुझे तोड़-मरोड़ दिया था वह पृथ्वी के उस अथाह दुःख और व्यथा की कितनी धुंधली सी परछाईंमात्र है!

जो स्वयं कष्ट भोग चुके हैं केवल वही दूसरों की व्यथा समझ सकते हैं, वही उसे जान सकते हैं, उसमें हिस्सा बंटा सकते हैं तथा उसका उपाय कर सकते हैं। मैं यह भी समझ गई हूं, ओ दिव्य शोकनिवारक! महान् याज्ञिक! कि हमारे सब कष्टों में हमें स्थिर रखने के लिये, हमारी सब व्यथाओं में हमें शांत रखने के लिये तूने पृथ्वी और मनुष्य के सभी कष्टों को, बिना किसी अपवाद के, जाना तथा अनुभव किया होगा।

पर फिर यह कैसे कि उनमें से कुछ, जो तेरे पुजारी होने का दावा करते हैं, ऐसे भी ह जो तुझे एक निर्दयी दुःख देनेवाला समझते हैं, एक कठोर न्यायाधीश मानते हैं—ऐसा न्यायाधीश जो इन सब यंत्रणाओं को देखता रहता है। इन्हें तूने उत्पन्न चाहे न किया हो पर इन्हें सहन तो तू करता ही है।

नहीं! मैं अब समझती हूं कि इन सब कष्टों का उद्गम जड़ वस्तु की वह अपूर्णता है जो अपनी अव्यवस्था और स्थूलता के कारण ही तुझे अभिव्यक्त करने के अयोग्य है। और सर्वप्रथम उससे कष्ट भी तो तू ही भोगता है, उसकी अपूर्णता अनुभव करता है, अव्यवस्था को व्यवस्था में बदलने की, कष्ट को प्रसन्नता में परिवर्तित करने की, विभिन्नता को अनुकूलता में लाने की उत्कट इच्छा से प्रेरित हो तू परिश्रम करता है, प्रयत्न करता है।

कष्ट अवश्यंभावी नहीं है और न ही वांछनीय है। पर जब वह आता है तो हमारे लिये कितना उपयोगी हो सकता है!

प्रत्येक बार जब मनुष्य को दुःख के बोझ से हृदय टूटता मालूम देता है, उसके अंदर एक गहनतर द्वार खुलता है जो नए क्षितिज प्रकट करता है तथा नित्य समृद्ध और गुप्त खजाने खोलता है। और इनके साथ ही आती है वह सुनहली प्रेरणा जो विनाश के निकट पहुंचे हुए इस शरीर को एक नया और अधिक प्रगाढ़ जीवन प्रदान करती है।

और जब इन अनेक अवरोहणों से मनुष्य उस पर्दे तक पहुंचता है जिसके उठते ही तू दृष्टिगोचर होता है तो, हे प्रभु, कौन वर्णन कर सकता है जीवन की उस प्रचुरता का जो समस्त सत्ता के भीतर पैठ जाती है, प्रकाश की उस शोभा का जो उसे भरपूर कर देती है, प्रेम की उस महत्ता का जो सदा के लिये उसका रूपांतर कर देती है!

परम आविष्कार

यदि हम सर्वांगीण उन्नति के अभिलाषी हैं तो हमें अपनी चेतन सत्ता के अंदर एक ऐसे दृढ़ और शुद्ध मानसिक समन्वय की रचना करनी चाहिये जो एक कवच की तरह बाह्य

प्रलोभनों से हमारी रक्षा कर सके, जीवन के सब घूम-फेर से बचने के लिये पथ-संकेत का काम कर सके, जीवन के गतिशील सागर में हमारे पथ को आलोकित करने के लिये प्रकाश-स्तंभ बन सके।

प्रत्येक को अपनी प्रवृत्तियों, अभिरुचियों और अभीप्साओं के अनुसार ही इस मानसिक समन्वय की रचना करनी चाहिये। पर यदि हम सच्चे अर्थों में जीवंत और प्रकाशयुक्त होना चाहते हैं तो इसके केंद्र में 'उस' का, जो हमारी सत्ता के केंद्र में है, हमारा जीवन है, हमारी ज्योति है, एक ऐसा विचार अवश्य होना चाहिये जो 'उस' का बौद्धिक प्रतीक और प्रतिरूप हो।

इस विचार की शिक्षा सभी देशों में तथा सभी युगों में महान् गुरुओं ने विभिन्न रूपों में प्रेरणाप्रद शब्दों में दी है।

प्रत्येक व्यक्ति की 'मैं' और विश्व की विराट् 'मैं' एक ही हैं।

यह सब संसार अपने सारतत्त्व तथा अपनी मर्यादा में वही सनातन सत्ता ही है। तब वस्तु और उसके मूल में, हममें और हमारे उद्गम में भेद क्यों किया जाय?

प्राचीन गाथाएं सच ही कहती थीं हम और हमारा आदिस्रोत, हम और हमारे भगवान् एक ही हैं।

इस एकत्व को एक थोड़ा-बहुत घनिष्ठ और अंतरंग एकत्व का संबंध ही नहीं, वरन् एक सच्चा तादात्म्य समझना चाहिये।

इस प्रकार जो मनुष्य उस 'अगम' तक एक-एक पग चलकर पहुंचने का प्रयास करता है, जो भगवान् को खोजता है, वह यह भूल जाता है कि उसका समस्त बौद्धिक तथा अंतः-स्फुरित ज्ञान उसे इस असीम के अंदर एक पग भी आगे की ओर नहीं ले जा सकता; और वह यह भी नहीं जानता कि जो वह प्राप्त करना चाहता है और जिसे वह अपने से इतनी दूर समझता है, वह उसके अपने भीतर ही है।

और वह उस स्रोत के विषय में कुछ जान भी कैसे सकता है जब तक वह अपने अंदर के उस स्रोत के प्रति चेतन ही नहीं हो जाता।

अपने आपको समझकर, अपने आपको जानना सीखकर ही मनुष्य यह परम आविष्कार कर सकता है और तब आश्चर्यचकित होकर बाइबिल के वयोवृद्ध की तरह कह सकता है: "ओह भगवान् तो यहीं निवास करते थे और मुझे पता ही न था।"

इसलिये जगतों की सृष्टि करनेवाले इस उत्कृष्ट विचार को हमें व्यक्त करना चाहिये, पृथ्वी और आकाशों को व्याप्त करनेवाले ये शब्द सबके कानों तक पहुंचाने चाहियें— "मैं प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी के अंदर विद्यमान हूं।"

जब सब लोग इस बात को जान जायंगे, तब महान् रूपांतर का वह निर्दिष्ट दिन दूर नहीं रह जायगा। जब जड़-पदार्थ के प्रत्येक परमाणु में मनुष्य उसके अंदर रहनेवाली भगवान् की इच्छा को देखने लगेंगे, प्रत्येक प्राणी में भगवान् के संकेत का ही आभास पायेंगे, तथा जब प्रत्येक मनुष्य में भगवान् को देखना जान लेंगे, तब उस उषा का आगमन होगा जो प्रकृति को आक्रांत करनेवाले अंधकार, असत्य और अज्ञान को, तथा दोषों, त्रुटियों और कष्टों को दूर कर देगी। कारण, "समस्त प्रकृति दुःख भोग रही और कराह रही है, वह भगवान् के पुत्रों के प्रकट होने की प्रतीक्षा में है।"

यही वह मुख्य विचार है, जिसमें अन्य सभी विचार आ जाते हैं, जिसे सदा हमारी स्मृति में उस सूर्य की भांति उपस्थित रहना चाहिये जो समस्त जीवन को आलोकित करता है।

इसी लिये मैं आज इसकी तुम्हें याद दिला रही हूं। कारण, यदि हम इसे एक अत्यंत दुर्लभ रत्न के समान, अत्यंत बहुमूल्य धन के समान, अपने हृदय में रखकर अपने पथ पर चलें, यदि हम इसे अपने अंदर ज्योति प्रदान करने तथा रूपांतर करने का कार्य करने दें तो हम देखेंगे कि यह प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी के केंद्र-स्थल में जीवंत रूप में विद्यमान है, और इसी के अंदर हमें समस्त विश्व के आश्चर्यजनक एकत्व की अनुभूति प्राप्त होगी।

और तब हम जान पायंगे कि हमारी क्षुद्र तृप्तियां, हमारे मूर्खतापूर्ण वाद-विवाद, हमारे तुच्छ आवेग, हमारे अविवेकपूर्ण रोष कितने व्यर्थ और बालोचित हैं! हम देखेंगे कि हमारी छोटी छोटी दुर्बलताएं समाप्त हो रही हैं, हमारे ससीम व्यक्तित्व की, हमारे निर्बोध अहंकार की अंतिम मोरचाबंदी नष्ट हो रही है। हम अपने आपको सच्ची आध्यात्मिकता के उस उत्कृष्ट प्रवाह में बहता हुआ अनुभव करेंगे जो हमें अपने सीमित ढांचे से, अपने संकीर्ण घेरे से बाहर ले जायगा।

व्यक्तिगत 'मैं' और विश्वगत 'मैं' एक ही हैं। प्रत्येक लोक में, प्रत्येक जाति में, प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक अणु में भगवान् विराजमान् हैं और यह मनुष्य का भगवत्प्रदत्त कार्य है कि वह उन्हें अभिव्यक्त करे।

इसके लिये मनुष्य को अपने अंदर की इस भागवत उपस्थिति के प्रति सचेतन होना होगा। कुछ को तो इसमें सफल होने के लिये पूरी शिक्षा की आवश्यकता होती है। उनकी अहंपूर्ण सत्ता उनके लिये अत्यधिक रोचक, दृढ़ और कठोर होती है और उसके साथ बड़ा लंबा और दुःखदायी संघर्ष करना पड़ता है। इसके विपरीत कुछ लोग जो अधिक निर्वैयक्तिक, अधिक नमनीय तथा अधिक आध्यात्मिक होते हैं सरलता से अपनी सत्ता के अक्षय दिव्य स्रोत के साथ संबंध जोड़ लेते हैं। किंतु यह भूलना नहीं चाहिये कि इन्हें भी नित्य और निरंतर अनुकूलीकरण और रूपांतर के कार्य को विधिपूर्वक करना होता है जिससे कोई भी चीज उनमें इस विशुद्ध प्रकाश की चमक को फिर से धूमिल न होने दे।

पर जब मनुष्य इस गंभीर चेतना को प्राप्त कर लेता है तो उसका दृष्टिकोण कितना बदल जाता है, उसका ज्ञान कितना विस्तृत हो जाता है, उसकी परहित-भावना कितनी बढ़ जाती है!

इस विषय पर एक ज्ञानी ने कहा है: "मेरी इच्छा है कि हममेंसे प्रत्येक इस अवस्था तक पहुंचे कि वह दुष्ट से दुष्ट मनुष्य में भी अंतरस्थित भगवान् को देख सके और तब उसे दोषी ठहराने के बदले हम उससे कहेंगे, ऐ ज्योतिर्मय पुरुष! उठ। तू तो सदा पवित्र है, तू न जन्म लेता है, न मरता है। उठ, ऐ सर्वशक्तिमान्, अपने असली स्वभाव को अभिव्यक्त कर।"

यदि हम इस अनुपम प्रवचन के अनुसार कार्य कर सकें तो हम देखेंगे कि हमारे चारों ओर सब कुछ मानों किसी चमत्कार के द्वारा रूपांतरित हो गया है।

यह सच्चे प्रेम की, सचेतन और निर्मल प्रेम की वृत्ति है, उस प्रेम की जो बाह्य रूपों

के पीछे भी देखना जानता है, शब्दों से स्वतंत्र भी समझ सकता है, जो सब विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ अंतर की गहराइयों के साथ निरंतर संबंध बनाये रखता है।

तब हमारे आवेगों और हमारी इच्छाओं का, हमारी वेदनाओं और उग्रताओं का, हमारे कष्टों और संघर्षों का, हमारे जीवनसंबंधी उन सब विपर्ययों का, जिन्हें हमारी अव्यवस्थित कल्पना अतिरंजित नाटकीय रूप दे देती है, क्या मूल्य है? इस महान् उत्कृष्ट और दिव्य प्रेम के सामने उनका भला क्या मूल्य है, उस प्रेम के सामने जो हमारी सत्ता की अंतरतम गहराई से हमारे ऊपर झुका हुआ है, हमारी दुर्बलताओं को सहन करता है, हमारी भूलों को सुधारता है, हमारे घावों को भरता है, हमारी संपूर्ण सत्ता को अपनी नवजीवन प्रदान करनेवाली धारा से नहलाता है?

कारण, अंतःस्थित भगवान् न तो दबाव डालते हैं, न कोई मांग करते हैं और न ही डर दिखाते हैं; वे तो अपने आपको ही देते हैं, अर्पण करते हैं, वे सब प्राणियों और सब वस्तुओं के केंद्र में स्थित होकर अपने आपको भूल जाते हैं; वे किसी को दोष नहीं देते, किसी के दोष-गुण का विवेचन नहीं करते, किसी को कोसते नहीं और न ही किसी को अपराधी ठहराते हैं; किंतु वे बिना दबाव के रूपांतर करने में, बिना बुरा-भला कहे सुधारने में, बिना धैर्य खोये उत्साहित करने में तथा प्रत्येक को उसकी ग्रहणशक्ति के अनुसार सभी संपदाओं से भरपूर कर देने में निरंतर लगे रहते हैं। वे माता हैं, उनका प्रेम जीवन देता है और पोषण करता है, देख-भाल और रक्षा करता है, परामर्श और सांत्वना देता है; वे सबको समझते हैं, इसी लिये वे सबको सहारा देते हैं, वे सबको क्षमा प्रदान करते हैं, वे सबको आशा दिलाते हैं तथा तैयार करते हैं; वे सबको अपने अंदर धारण किये हुए हैं, अतः उनके पास ऐसा कुछ नहीं है जो सबका न हो। क्योंकि वे सबपर शासन करते हैं, वे सबके सेवक हैं; इसी लिये वे सब छोटे-बड़े, जो उनके साथ राजा और देवता बनना चाहते हैं, उन्हीं के समान, स्वेच्छाचारी शासक नहीं वरन् अपने भाइयों के सेवक बन जाते हैं।

सेवक का यह विनम्र कार्य भी कितना सुन्दर है—उन सबका कार्य जो सबके अंदर स्थित भगवान् को, सब वस्तुओं को जीवन प्रदान करनेवाले भागवत प्रेम को अभिव्यक्त करते हैं, उनकी घोषणा करते हैं.....!

और जब तक हमें उनके दृष्टांत का अनुसरण करने की, उनके समान सच्चे सेवक बनने की शक्ति नहीं प्राप्त हो जाती, हम भागवत प्रेम को अपने अंदर प्रवेश करने दें, उसके द्वारा अपने आपको रूपांतरित होने दें, मुक्त भाव से इस अद्भुत यंत्र को, जड़तत्त्व से बने हुए अपने शरीर को उसे सौंप दें। वह इसे कर्म के प्रत्येक स्तर पर अधिक से अधिक उपयोगी कार्य करने के योग्य बना देगा।

इस पूर्ण आत्मोत्सर्ग को चरितार्थ करने के लिये, सभी साधन ठीक हैं, सभी पद्धतियां अपना अपना महत्त्व रखती हैं। पर सबसे अधिक अनिवार्य है उद्देश्य-प्राप्ति के संकल्प में धीरतापूर्वक लगे रहना। कारण, तब जो कुछ भी हम सीखते हैं, जो कार्य भी हम करते हैं, जिन मनुष्यों से भी हम मिलते हैं, वे सब हमें इस मार्ग पर चलाने के लिये कुछ संकेत देते हैं, हमारी सहायता करते हैं, हमें प्रकाश दिखाते हैं।

अपनी बात को समाप्त करने से पहले मैं उन लोगों के लिये कुछ और पृष्ठ जोड़ देना

चाहती हूं जो बिना किसी प्रत्यक्ष फल के कितने ही प्रयत्न कर चुके हैं, जो इस मार्ग की कठिनाइयों से परिचित हो चुके हैं, जो अपनी दुर्बलता का ठीक अंदाजा लगा चुके हैं तथा जिन्हें विश्वास और साहस खोने का भय हो रहा है। ऐसे दुःखी लोगों के हृदय में पुनः आशा का संचार करने के लिये ये पृष्ठ एक आध्यात्मिक साधक द्वारा उस समय लिखे गये थे जिस समय सब प्रकार की कठिन परीक्षाएं उसपर पवित्र करनेवाली अग्नि की लपटों के समान आ पड़ी थीं।

तुम, जो क्लांत, निराश और पीड़ित हो, तुम, जो गिर पड़े हो, जो संभवतः अपने को पराजित समझ रहे हो, एक मित्र की आवाज सुनो। वह तुम्हारे कष्टों को जानता है, उन्हें भोग चुका है, वह तुम्हारी तरह ही संसार की विपत्तियां झेल चुका है, तुम्हारी तरह ही दिन का बोझ उठाये कई रेगिस्तान पार कर चुका है, वह भूख और प्यास से, एकाकी और परित्यक्त अवस्था से और हृदय की निष्ठुरतम रिक्तता से परिचित है। शोक! वह संदेह की घड़ियां भी जानता है, वह भूलों और दोषों को, त्रुटियों और सब प्रकार की दुर्बलताओं को भी खूब पहचानता है।

वह तुमसे कहता है: साहस रखो! उस शिक्षा को सुनो जो प्रतिदिन प्रातःकाल उदीयमान सूर्य अपनी प्रथम किरणों के साथ पृथ्वी पर लाता है; यह आशा की शिक्षा है, सांत्वना का संदेश है।

तुम, जो रो रहे हो, कष्ट पा रहे हो, भय से कांप रहे हो, क्योंकि तुममें इतना साहस नहीं है कि अपने दुःखों की अवधि को, अपनी वेदनाओं के परिणाम को पहले से जान सको, देखो, ऐसी कोई रात नहीं जिसके बाद उषा न आवे, जब अंधकार अत्यधिक घना हो जाता है तभी दिन निकलने का समय होता है, ऐसा कोई कुहरा नहीं है जिसे सूर्य हटा न सके, ऐसा कोई बादल नहीं जिसे वह स्वर्णिम न कर दे, ऐसा कोई आंसू नहीं जिसे वह एक दिन सुखा न दे, ऐसा कोई तूफान नहीं जिसके बाद उसका विजय-धनुष चमक नहीं उठता ऐसा कोई हिम नहीं जिसे वह पिघला नहीं देता, कोई शीत नहीं जिसे वह प्रफुल्ल वसंत में बदल नहीं देता।

और इसी प्रकार तुम्हारे लिये भी कोई ऐसी वेदना नहीं जो उसी मात्रा में वैभव में परिवर्तित न हो जाय; ऐसा कोई दुःख नहीं जो आनन्द में रूपांतरित न हो सके। ऐसी कोई पराजय नहीं जो विजय में न बदल जाय, ऐसा कोई पतन नहीं जो उच्चतर उत्थान में परिणत न हो सके, ऐसी कोई निर्जनता नहीं जो जीवन का केंद्र न बन सके, ऐसा कोई विरोध नहीं जो समस्वरता में न बदल सके। कभी कभी दो मनों का मतभेद ही दो हृदयों को संबंधित होने के लिये बाध्य करता है। संक्षेप में, ऐसी कोई असीम दुर्बलता नहीं जो शक्ति में न परिणत हो सके, यहां तक कि चरम दुर्बलता में भी सर्वशक्तिमान् भगवान् अपने आपको व्यक्त करना पसंद करते हैं।

सुन, मेरे प्यारे बच्चे! तू, जो इतना भग्नहृदय अनुभव कर रहा है, शायद पराजित भी, जिसके पास अब कुछ बाकी नहीं रहा, अपनी दरिद्रता को ढांकने के लिये, अपने गर्व का पोषण करने के लिये कुछ भी शेष नहीं रहा, तू इतना महान् कभी भी नहीं था! जो व्यक्ति गहराइयों को जान जाता है, वह शिखरों के कितना समीप पहुंच जाता है! क्योंकि जितना अथाह जब गर्त्त होता है उतनी ही अधिक ऊंचाई भी वहां उपस्थित होती है।

क्या तू नहीं जानता कि विस्तृत सृष्टि की महान् शक्तियां अपना तन ढकने के लिये जड़-पदार्थ के स्थूल वस्त्रों की खोज में रहती हैं? सर्वोच्च प्रेम और अत्यंत तमोग्रस्त नमनीय जड़-पदार्थ का, अंधकार की अभिलाषा और अत्यंत वैभवशाली प्रकाश का कितना मनोहारी गठबंधन है!

यदि कठिन परीक्षा या त्रुटि ने तुझे नीचे गिरा दिया है, यदि तू दुःख के अथाह गर्त्त में डूब गया है, तो इससे तू दुःखी न हो, क्योंकि यहीं तुझे भागवत स्नेह और परम आशीर्वाद प्राप्त हो सकता है। तू शुद्ध करनेवाले कष्टों की अग्नि-परीक्षा में से गुजर चुका है, अब गौरवमय आरोहण तेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

तू मरुभूमि में है? अच्छा तो सुन, नीरवता की वाणी सुन। अब तक तो बाह्य प्रशंसा और स्तुति के वचनों की ध्वनि ने ही तेरे कानों को सुख पहुंचाया है, पर अब नीरवता की वाणी तेरी आत्मा को सुख देगी, क्योंकि वह तेरे अंदर गहराइयों की प्रतिध्वनि को, दिव्य सामंजस्य के संगीत को जाग्रत् कर देगी।

तू रात्रि के अंधकार में चल रहा है? तो, रात्रि की अमूल्य निधि को इकट्ठा कर ले। सूर्य का तेज प्रकाश बुद्धि के मार्गों को आलोकित कर देता है, किंतु रात्रि की श्वेत प्रभा में पूर्णता के गुप्त पथ दृष्टिगोचर होते हैं, आध्यात्मिक संपदाओं का रहस्य प्रकट होता है।

तू रिक्तता के मार्ग का अनुसरण कर रहा है? वह तो प्रचुरता की ओर ले जाता है। जब तेरे पास कुछ नहीं रहेगा तब तुझे सब कुछ दिया जायगा, क्योंकि जो सच्चे और स्वच्छ-हृदय हैं उनके लिये सदा अत्यधिक बुराई में से ही अत्यधिक भलाई निकलती है।

जमीन में बोया हुआ एक दाना हजारों दाने पैदा करता है। शोकरूपी पंख की प्रत्येक चेष्टा गौरव की ओर उड़ान बन सकती है।

और जब शत्रु मनुष्य को प्रबल रूप से आक्रांत कर लेता है, तो जो कुछ वह उसके नाश के लिये करता है, वह उसे महान् बना देता है।

भुवनों की कहानी सुन, देख, प्रचंड शत्रु विजयी होता दिखाई देता है। वह प्रकाश की सत्ताओं को रात्रि में फेंकता है और रात्रि तारों से भर जाती है। वह वैश्व क्रिया के साथ घोर युद्ध ठान लेता है, नक्षत्रमंडल के अखंड साम्राज्य पर आक्रमण करता है, उसके सामंजस्य को छिन्न-भिन्न करता है, उसे खंडित और विखंडित करता है, उसकी धूलि को असीम की चारों दिशाओं में बिखेर देता है, और देख! फिर यह धूलि स्वर्ण-बीजों में परिणत हो जाती है, असीम को उर्वर बनाती है और उसे भुवनों से भर देती है जो अब अपने शाश्वत केंद्र के चारों ओर प्रकाश की विशालतर परिधि के अंदर घूमते रहेंगे। इस प्रकार विभाजन ही एक अधिक समृद्ध और अधिक गंभीर एकत्व उत्पन्न करता है और भौतिक जगत् के धरातलों को बढ़ाता हुआ उसी साम्राज्य को विस्तृत कर देता है जिसे वह नष्ट करने पर तुला हुआ था।

निःसंदेह, असीम के वक्षःस्थल पर झूलता हुआ आदिमंडल का गान अत्यंत सुन्दर था। पर उससे भी अधिक सुन्दर और विजयोल्लासपूर्ण है नक्षत्रों का स्वरसाम्य, ग्रहों का संगीत, उनका विराट् समवेत गान जो आकाशों को विजय-मंत्र से गुंजायमान कर रहा है।

और भी सुन, मनुष्य के लिये उससे अधिक संकटपूर्ण और कोई अवस्था नहीं थी जब वह पृथ्वी पर अपने दिव्य उद्गम से विच्छिन्न हो गया था। उसके ऊपर बलपूर्वक अधिकार कर लेने-

वाले शत्रु की राज्यसीमा का विस्तार था और क्षितिज के द्वार पर ज्वालामयी कृपाणों से सुसज्जित पहरेदार चौकसी के लिये खड़े थे। तब क्योंकि वह जीवन के आदिस्रोत तक नहीं चढ़ सकता था, वह स्रोत ही उसके भीतर फूट निकला; क्योंकि वह ऊपर से प्रकाश ग्रहण नहीं कर सकता था, वह प्रकाश उसकी सत्ता के केंद्र में ही जगमगा उठा; क्योंकि वह अब परात्पर प्रेम के साथ और संबंध नहीं रख सकता था, उस प्रेम ने अपनी ही आहुति दे दी, अपने आपको अर्पित कर दिया, प्रत्येक पार्थिव सत्ता को, प्रत्येक मानवीय अहंकार को अपना निवासस्थान, अपना देवालय बना लिया।

इसी कारण, तिरस्कृत पर उर्वर, परित्यक्त पर भाग्यवान् जड़पदार्थ के प्रत्येक परमाणु में दिव्य भाव विद्यमान है, प्रत्येक सत्ता में भगवान् का निवास है। और यदि विश्व भर में कोई मनुष्य जैसा दीन-हीन प्राणी नहीं है तो उस जैसा कोई दिव्य भी नहीं है।

सत्य है, दीनता ही गौरव की जन्मभूमि है।

भाग २

"१९१२ में कुछ जिज्ञासु अपने आपको जानने तथा अपने पर स्वामित्व प्राप्त करने के उद्देश्य से नियमपूर्वक मिला करते थे।

प्रत्येक सत्संग के अंत में एक व्यापक प्रश्न प्रस्तुत किया जाता था जिसका उत्तर हर एक सदस्य को अलग अलग देना होता था। ये उत्तर अगले सत्संग में पढ़े जाते थे। उनके बाद कार्रवाई को समाप्त करते हुए एक छोटा सा निबंध पढ़ा जाता था। ये वही निबंध हैं।"

—श्री माताजी

पहला सत्संग

मंगलवार, १४ मई, १९१२

विश्व के कार्य में मेरा क्या स्थान है?

हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति को एक भूमिका निभानी है, एक कार्य करना है; प्रत्येक का एक अपना स्थान है जिसे केवल वही ग्रहण कर सकता है।

परंतु क्योंकि यह कार्य हमारी सत्ता की सबसे अधिक केंद्रीय गहराई की बाह्य अभिव्यक्ति है हम इसका निश्चित रूप तभी जान सकते हैं जब कि हम अपने अंदर की इस गहराई के प्रति सचेतन हो जायं।

सच्चे रूपांतर के दृष्टांतों में कभी कभी ऐसा ही होता है। जिस क्षण हम रूपांतरकारी प्रकाश को अनुभव करते हैं तथा उसके प्रति निःसंकोच भाव से अपने को अर्पित कर देते हैं तभी, जितने आकस्मिक उतने ही यथार्थ रूप में, हम यह भी जान जाते हैं कि हमें क्यों बनाया गया है और पृथ्वी पर हमारे अस्तित्व का क्या कारण है।

पर यह प्रकाश एक दुर्लभ वस्तु है। हमारे अंदर यह प्रयत्नों और आंतरिक वृत्तियों के पूरे क्रम से निर्धारित होता है। इन वृत्तियों, आत्मा की इन अवस्थाओं को प्राप्त करने तथा इन्हें बनाये रखने के लिये एक आवश्यक साधन यह है कि हम प्रतिदिन अपने समय का कुछ भाग किसी निःस्वार्थ कार्य में लगायें; प्रतिदिन ही हम कोई न कोई ऐसा काम करें जो दूसरों के लाभ का हो।

पहला सत्संग

भावी द्वारा निर्धारित अपने वास्तविक कार्य को जानने की प्रतीक्षा करते हुए हमें कोई एसा अस्थायी काम ढूंढ़ लेना चाहिये जो हमारी वर्तमान शक्यताओं को तथा हमारे सद्भाव को श्रेष्ठतम रूप में चरितार्थ कर सके।

तब हमें विवेकपूर्वक और धैर्य के साथ उस कार्य में लग जाना चाहिये, यह जानते हुए कि यह एक अवस्थामात्र है और इसमें हमारे आदर्श और हमारी शक्तियों का विकास हो रहा है जिसके फलस्वरूप हम निश्चय ही एक दिन उस कार्य को अधिक यथार्थ रूप में जान लेंगे जो हमें भविष्य में पूरा करना है। जिस हद तक हम प्रत्येक वस्तु पर अपने संबध से विचार करने की आदत छोड़ देंगे और पृथ्वी तथा मनुष्यमात्र के प्रति अधिक पूर्ण रूप में तथा महत्तर प्रेम के साथ अपने आपको अर्पित करना सीख जायंगे उसी हद तक हम यह भी जान लेंगे कि हमारा व्योम विस्तृत हो रहा है और हमारे कर्त्तव्य अधिक तथा सुनिश्चित हो रहे हैं।

हमें इस बात का भी ज्ञान होने लगेगा कि हमारा कार्य उस सामान्य प्रगतिशील मार्ग का अनुसरण कर रहा है जो हमारे निजी स्वभाव से निर्धारित हुआ है।

वास्तव में, वे सभी धंधे जिन्हें हम अपने विशिष्ट कार्य का निश्चित रूप जानने से पहले करेंगे, एक ही आशय के, एक ही श्रेणी के तथा हमारे चरित्र और स्वभाव और हमारी निजी गति-विधि को सहज रूप से व्यक्त करनेवाली एक ही शैली के होंगे।

इस प्रवृत्ति, इस दिशा-विशेष की खोज मनुष्य को स्वभावतः अपनी रुचि तथा सहज पसंद के आधार पर करनी चाहिये; इसमें किसी प्रकार के बाह्य तथा आसक्तिपूर्ण विचार नहीं आने देने चाहियें।

लोगों को इस बात के लिये बहुधा बुरा-भला कहा जाता है कि वे अपने लिये ऐसे कार्य चुनते हैं जो उनके साधनों के अनुकूल नहीं होते। पर इसमें थोड़ी भूल है।

मेरे विचार में, जो लोग स्वेच्छापूर्वक अपनी रुचि के अनुसार कोई कार्य हाथ में लेते हैं उन्हें कार्य के स्वरूप के संबंध में धोखा नहीं होना चाहिये; यह कार्य अवश्य ही उनकी विशेष प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होना चाहिये। परंतु भूल तब होती है जब वे इस कार्य को, इसकी गहराई, विशेषतया इसके तलीय विस्तार की दृष्टि से एकबारगी ही पूर्ण तथा सर्वांगीण रूप में कर डालना चाहते हैं। इसमें वे यह भूल जाते हैं कि उनकी कार्य-संबंधी धारणा उतनी ही अपूर्ण है जितने कि वे स्वयं अपूर्ण हैं, और बुद्धिमत्ता इस बात में है कि वे जो कुछ करना 'चाहते' हैं उसके ज्ञान के साथ साथ वे उस कार्य का समयोपयोगी और क्रियात्मक ज्ञान भी प्राप्त करें जिसके करने में वे उस समय 'समर्थ' हैं।

इन दोनों बातों को ध्यान में रखने से ही वे समय और शक्ति की कम से कम हानि करते हुए अपने आपको उपयोगी बना सकेंगे।

परंतु बहुत कम लोग इतनी पारदर्शी दृष्टि तथा बुद्धि से काम लेते हैं। जो व्यक्ति अपना मार्ग ढूंढ़ रहा होता है वह प्रायः निम्न दो भूलों में से किसी एक में पड़ जाता है।

पहली भूल यह है कि वह अपनी इच्छाओं को अंतिम रूप में सत्य वस्तु समझने लगता है। फलस्वरूप वह अपनी उस समय की शक्तियों और योग्यताओं के संबंध में पहले से ही निश्चित धारणा बना लेता है। वह सोचता है कि वह उस स्थान और भूमिका को तत्क्षण

ग्रहण कर सकता है जिसे वास्तव में वह केवल वर्षों तक विधिपूर्वक लगातार प्रयत्न करके ही सम्मानपूर्वक प्राप्त कर सकेगा।

दूसरी यह कि वह अपनी गुप्त शक्तियों के बारे में गलत धारणा बना लेता है और गंभीर अभीप्सा के होते हुए भी जान-बूझकर अपनी सामर्थ्य से निम्नतर धंधे में सीमित हो जाता है जो धीरे धीरे उसके अंदर के प्रकाश को बुझा देगा, जब कि वह प्रकाश दूसरों तक भी अपनी किरणें पहुंचाने की सामर्थ्य रखता था।

शुरू शुरू में इन चट्टानों के बीच में से अपना रास्ता बनाना तथा संतुलित और मध्य मार्ग ढूंढ़ना अवश्य कठिन प्रतीत होता है।

परंतु हमारे पास एक ऐसा अचूक दिग्दर्शक यंत्र है जो यह कार्य कर सकता है :

जो कुछ भी हम करें, हम उसे अपने दिखावे के लिये न करें। जब हम यश, सम्मान और अपने समकालीनों तथा अपने साथियों की सहानुभूति पाने की इच्छा करने लगते हैं तब हम शीघ्र ही उनके प्रति झुकने के लिये बाध्य हो जाते हैं। जब हम आत्मश्लाघा के अवसर ढूंढ़ने लगते हैं तब हम सहज ही अपने आपको वह मानने लगते हैं जो हम वास्तव में नहीं हैं और यह चीज हमारे अंदर के आदर्श को सबसे अधिक धुंधला कर देती है।

"मैं बड़ा बनना चाहता हूं, अतः मुझे अपने लिये कोई ऐसा काम ढूंढ़ना चाहिये जो मुझे बड़ा बना दे", यह हमें स्पष्ट या परोक्ष रूप में कभी नहीं कहना चाहिये।

इसके विपरीत हमें कहना यह चाहिये, "निश्चय ही एक ऐसा कार्य है जो मैं और सबकी अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकता हूं, क्योंकि हममेंसे प्रत्येक दिव्य शक्ति की एक विशेष अभिव्यक्ति है, यद्यपि अपने सार-रूप में वह शक्ति सबमें समान है। कार्य कितना भी छोटा, कितना भी साधारण क्यों न हो, पर यह है ठीक वही जिसमें मुझे अपनेको लगा देना है और इसे जानने के लिये मैं अपनी प्रवृत्तियों तथा रुचियों का निरीक्षण और विश्लेषण करूंगा; अभिमान तथा अत्यधिक दीनता दोनों को दूर करके मैं इसे ही करूंगा, दूसरे इसके बारे में क्या सोचते हैं इसकी परवाह मुझे नहीं होगी। मैं इसे उसी प्रकार करूंगा जिस प्रकार मैं सांस लेता हूं, जिस प्रकार फूल अपनी सुरभि फैलाता है, सर्वथा सरल तथा स्वाभाविक रूप से, क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई कार्य मेरे लिये करना संभव नहीं होगा।"

ठीक उसी क्षण जब कि हम अपने अंदर से सब अहंमूलक इच्छाएं, सब व्यक्तिगत तथा स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों को दूर करने में सफल हो पाते हैं—चाहे यह एक क्षण के लिये ही हो—तभी हम अपने आपको इस आंतरिक सहजता, इस गंभीर प्रेरणा के प्रति अर्पित कर पाते हैं जो हमें जगत् की जीवंत तथा प्रगतिशील शक्तियों के साथ संबंध स्थापित करने के योग्य बना देगी।

हमारा अपने कार्य का विचार भी अनिवार्य रूप में उसी हद तक पूर्ण होता चला जायगा जिस हद तक हम अपने आपको पूर्ण बनाते जायंगे। और इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिये हमें अपनी ओर से कुछ उठा नहीं रखना चाहिये। और उधर हमारा कार्य भी सदा तथा अधिकाधिक आनंदपूर्ण और सहजस्फूर्त्त होना चाहिये, जैसे कि निर्मल स्रोत में से जल प्रवाहित होता है।

दूसरा सत्संग

२९ मई, १९१२

निःस्वार्थ कार्य के प्रति आत्मनिवेदन करने में हममें सबसे बड़ी बाधा क्या है ?

अति सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो यह बाधा और साध्य कार्य का उद्देश्य दोनों एक हैं। यह है भूत-द्रव्य की वर्तमान अपूर्णता।

अपूर्ण पदार्थ से बने होने के कारण हमें इस अपूर्णता में भाग लेना ही होता है। हमारी गहन सत्ता चाहे कितनी भी पूर्णता, चेतना और ज्ञान उपलब्ध कर सकती हो, पर यह तथ्य ही कि वह एक भौतिक शरीर में मूर्त्त रूप धारण करती है, उसकी अभिव्यक्ति की विशुद्धता के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न कर देता है। इस मूर्त्त रूप के धारण करने का उद्देश्य ही यह है कि इन बाधाओं पर विजय प्राप्त की जाय तथा स्थूल पदार्थ का रूपांतर किया जाय। अतएव जब हमें अपने अंदर इन बाधाओं का सामना करना पड़े तो हमें न तो आश्चर्य होना चाहिये और न दुःख, क्योंकि इस पृथ्वी पर ऐसा कोई प्राणी नहीं है जिसे कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता।

इस अपूर्णता के कारण पर हम दो दृष्टिकोणों से विचार कर सकते हैं: एक सामान्य और दूसरा वैयक्तिक।

सामान्य दृष्टिकोण से भौतिक पदार्थ की अपूर्णता का कारण इसमें उन सूक्ष्म शक्तियों के प्रति ग्रहणशीलता का अभाव है जिन्हें इसके द्वारा अभिव्यक्त होना है। किंतु ग्रहणशीलता के अभाव के भी कई कारण हैं और यदि हम इनका विवेचन करने लगेंगे तो हम अपने मुख्य विषय से दूर हट जायंगे। इसके अतिरिक्त मेरा विचार है कि अंतिम विश्लेषण में सब कठिनाइयों का मूल 'व्यक्तित्व के भ्रम' (illusion of personality) में मिलता है—इस भ्रम में कि कोई व्यक्ति सबसे अलग भी अस्तित्व रख सकता है।

परंतु इस भ्रम की हमारे यथाज्ञात विश्व की सत्ता के लिये ही क्या अनिवार्यता है, इसपर अंदाज-अनुमान लगाये बिना, मैं प्रश्न पर केवल मानवीय तथा पार्थिव विकास की दृष्टि से विचार करूंगी।

इस अहं का भ्रम जो सबसे पृथक् है हममें दो प्रवृत्तियां पैदा करता है।

पहली सबके साथ एकत्व स्थापित करने की अचेतन आवश्यकता से उत्पन्न होती है। किंतु व्यक्तित्व के भ्रम के कारण प्रत्येक मनुष्य इस एकत्व का अर्थ स्व-व्यस्तता करता है और कम या अधिक रूप में सबका केंद्र बन जाना चाहता है। अतः प्रत्येक ही, अपनी बौद्धिक और शारीरिक शक्ति के अनुसार, सभी ज्ञात वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है जिससे वह अपने व्यक्तित्व को सदा अधिकाधिक विस्तृत कर सके।

यह एक इच्छा का परिणाम है जो अपने सार-रूप में उचित है अर्थात् सबसे सचेतन होना, किंतु व्यक्ति इसके व्यक्त रूप से अनभिज्ञ रहता है। सबसे सचेतन होने का यदि कोई तरीका है तो वह सबको अपनी ओर खींचने की इच्छा करना कदापि नहीं है—यह मूर्खतापूर्ण है तथा सफल नहीं हो सकता—बल्कि यह कि सबकी चेतना के साथ अपनी चेतना का तादात्म्य स्थापित किया जाय और ऐसा करने के लिये ठीक इससे उलटे कर्म एवं वृत्ति को अपनाना होता है।

दूसरी प्रवृत्ति जो पहली का स्वाभाविक परिणाम भी है स्वरक्षा की एक अत्यधिक प्रबल भावना तथा व्यक्ति की समस्त प्रकृति–बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक–की रूढ़ता है। यह हमें उतनी जल्दी रूपांतरित नहीं होने देती जितनी जल्दी कि हमें वैश्व विकास के साथ साथ चलने के लिये होना चाहिये।

हम कह सकते हैं कि व्यक्ति को यह भय होता है कि यदि वह सबके साथ अधिक और मुक्त आदान-प्रदान का संबंध रखेगा तो वह दूसरों से पर्याप्त रूप में भिन्न नहीं रहेगा।

इसके अतिरिक्त यह कठोरता संग्रह करने की इच्छा तथा उस भूल से उत्पन्न होती है जिससे हम यह समझने लगते हैं कि हम संसार में किसी वस्तु के स्वामी हो सकते हैं। हमें ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जिन तत्त्वों से हम बने हैं वे शुरू से ही हमारे हैं, उनपर हमारा अधिकार है; चेतन अथवा अवचेतन रूप में हम उन्हें अपने लिये सुरक्षित रखना चाहते हैं, साथ ही हममें उनकी वृद्धि के लिये दूसरे तत्त्वों को भी अपनी ओर खींचने की प्रवृत्ति रहती है। किंतु हम यह भूल जाते हैं कि पृथक्ता सत्य नहीं है, यदि हम कुछ देते नहीं तो ग्रहण भी नहीं कर सकते।

हमें शृंखला की एक कड़ीमात्र होना चाहिये, अपनी पड़ोसी कड़ियों को हानि पहुंचाकर वह बड़ी नहीं होगी। परंतु यदि वह उस शक्ति के प्रवाह को जो उसे प्राप्त हुई है शुद्ध भाव में आगे भेज देगी तो उसे और शक्ति प्राप्त होगी और जितनी ही उसकी आगे भेजने की यह योग्यता पूर्ण और द्रुत होगी उतना ही उसका संबंध उन अनेक शक्तियों अथवा वस्तुओं के साथ स्थापित हो जायगा जिन्हें उसे उपयोग में लाना तथा अभिव्यक्त करना है। इस प्रकार धीरे धीरे, कुछ न लेते हुए, अपने लिये कुछ न रखते हुए, वह सबके विषय में, उनके साथ संबंधित होने के कारण, ज्ञान प्राप्त कर लेगी।

जो शंकाएं इस बात के विरुद्ध उठ सकती हैं और जिनकी मैं कल्पना कर सकती हूं उन-के लिये मैं यह कहना चाहूंगी :

जब मैं व्यक्तित्व के भ्रम के विषय में कुछ कहती हूं तो मैं इस बात को अस्वीकार नहीं करती कि प्रत्येक का अभिव्यक्ति का ढंग भिन्न होता है, परंतु विभिन्नता का अर्थ विभाजन नहीं है।

शृंखला में इन अनगिनत कड़ियों का प्रयोजन ही क्या होगा, यदि प्रत्येक का कोई अपना निश्चित कार्य न हो ?

यहां पहली तुलना को पूरा करने के लिये एक और तुलना की आवश्यकता पड़ेगी, क्योंकि समस्त तुलना ही अनिवार्य रूप में अपूर्ण होती है।

यदि हम अपने आपको एक विशाल और जीवंत शरीर के कोषाणु मान लें तो हम तत्काल समझ जायंगे कि जो कोषाणु अपने जीवन के लिये संपूर्ण जीवन पर निर्भर रहता है और नाश के भय के कारण उससे अलग नहीं हो सकता है उसकी समष्टि में अपनी कुछ विशेष भूमिका जरूर होती है।

और यह भूमिका ठीक वही होती है जो हमारी सत्ता के लिये अत्यधिक स्वाभाविक है। इसे खोजने के लिये हमें किसी भी अहंकारपूर्ण आग्रह का आश्रय नहीं लेना चाहिये। इस-के विपरीत, जितना अधिक हम अपने आपको निःस्वार्थ कार्य में लगायेंगे, उतनी ही यह भूमिका सुदृढ़ और सुस्पष्ट हो जायगी। ठीक यही भूमिका हमारे सच्चे व्यक्तित्व का निर्माण

करती है, क्योंकि दिव्य तत्त्व को, जो सब व्यक्तियों और सब वस्तुओं में एक है, अभिव्यक्त करने का हमारा विशेष ढंग यही है और यह सबमें अपना अपना है।

तीसरा सत्संग

२८ मई, १९१२

वह कौनसी मनोवैज्ञानिक कठिनाई है जिसका मैं, अनुभव द्वारा अधिक से अधिक अच्छी तरह, अध्ययन कर सकती हूं?

हम सबके अंदर एक कठिनाई है जो अन्य सब कठिनाइयों से अधिक केंद्रीय है; संसार में हमें जो कार्य करना है उसके संबंध से यह प्रकाश के साथ छाया के समान है। जैसे जैसे यह प्रकाश अधिक तीव्र, उज्ज्वल तथा सतेज होता जायगा और सारी सत्ता को अधिकृत कर लेगा, यह छाया क्रमशः क्षीण तथा विलीन हो जायगी।

यह कठिनाई, जो प्रत्येक व्यक्ति की अलग होती है, मेरे विचार में, हमारे सारे ध्यान और सारे प्रयत्न की मांग करती है, क्योंकि यदि हम अपना निरीक्षण करना जानते हैं तो हम देखेंगे कि इसी कठिनाई में से वे सब कठिनाइयां निकलती हैं जो हमारे रास्ते में बाधा डाल सकती हैं।

आज इसी कोटि की कठिनाई के विषय में मैं कुछ कहना चाहती हूं।

हममें एक प्रकार की अति वेदनशीलता (sensibility) होती है जो बाहर कम प्रकट होने से और भी अधिक तीव्र हो जाती है। यह भावना या आवेग की श्रेणी की वस्तु होती है।

इस वेदनशीलता का कारण एक अति-स्नायविक तथा बौद्धिक तत्त्व होता है, पर यह तत्त्व बौद्धिक होने के कारण, पर्याप्त रूप में आध्यात्मिक नहीं होता।

यह विकास की वह अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति अपने प्रति सचेत होने के कारण आत्मसमर्पण के लिये तैयार हो जाता है, पर व्यक्तित्व और बुद्धि के विकास के कारण प्रत्येक वस्तु को अपने संबंध में रखकर देखने की आदत बना लेता है और 'व्यक्तित्व के भ्रम' को उसकी आध्यात्मिक सीमा तक ले जाता है।

उसके लिये फिर कभी कभी यह कल्पना करना भी कठिन हो जाता है कि वह कर्म नहीं कर रहा, अनुभव नहीं कर रहा तथा सोच नहीं रहा। इसमें सहजता नहीं रहती जो असदहृदयता जैसी अवस्था है।

व्यक्ति अपनी उत्कट वेदनशीलता में रस लेने लगता है; वह एक ऐसा नाजुक यंत्र बन जाता है, जो छोटे से छोटे स्पंदन के प्रति भी आश्चर्यजनक रूप से सचेत रहने लगता है। इस प्रकार अपने आपको बाहर की ओर प्रवृत्त करने तथा अपने अहं को भूलने के स्थान पर—जो उसे करना उचित है—वह अपने प्रति ही अभिमुख हो उठता है, अपना निरीक्षण तथा विश्लेषण करने लगता है, प्रायः अपने विषय में ही चिंतन करने लगता है।

इस प्रकार साधी हुई यह भावुक वेदनशीलता बढ़ती बढ़ती उत्तरोत्तर सूक्ष्म और परिष्कृत होती जाती है। और क्योंकि जीवन में कष्ट के क्षण हर्ष के क्षणों की अपेक्षा अधिक आते हैं, भाव की इन सूक्ष्म गतिविधियों का अनुभव तथा अध्ययन करने की आवश्यकता

व्यक्ति के अंदर दुःख के प्रति एक झुकाव, एक रुचि उत्पन्न कर देती है, जो यथार्थ रूप में गुह्य विद्या की विकृति है और वस्तुतः कष्ट में आत्मा की खोज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; यह एक परिष्कृत प्रकार का पर अत्यंत हानिकारक अहंभाव है।

कष्ट-विषयक इस मांग के क्रियात्मक परिणाम तब बिलकुल ही विनाशकारी हो जाते हैं जब इस प्रवृत्ति के साथ यह अंतःस्फूर्त पर अभी भी अस्पष्ट भाव और सम्मिलित हो जाता है कि तुम्हारा करने का काम, तुम्हारे जीवन का उद्देश्य ही दूसरों के कष्ट को अपनी ओर मोड़ना तथा अपने ऊपर ले लेना है, जिससे तुम उसे सुख और स्वरसाम्य में परिवर्तित कर सको।

एक ओर तो, वास्तव में, यह विचार ही अधकचरा है क्योंकि तुम यह भूल जाते हो कि दूसरों को सांत्वना देने का, संसार के थोड़े से दुःख को भी दूर करने का केवल एक उपाय है और वह यह कि किसी भी अनुभव को, चाहे वह कितना कष्टप्रद क्यों न हो, अपने अंदर दुःख न पैदा करने दो, अपनी शांति और धीरता को भंग न करने दो। दूसरी ओर, जो काम करना है उसका विचार ही अपने आपमें 'व्यक्तित्व के भ्रम' में पड़कर मिथ्या हो जाता है। ठीक धारणा यह है कि तुम अपने ऊपर सब कष्ट मत लो, जो है भी असंभव, वरन् अन्य सभी व्यक्तियों के समस्त कष्ट के साथ एक हो जाओ जिससे तुम उस कष्ट तथा उन व्यक्तियों के अंदर प्रेम और प्रकाश के बीज बन सको; यह बीज फिर गंभीर ज्ञान के साथ आशा, विश्वास तथा शांति को जन्म देगा।

जब तक यह बात भलीभांति समझ में नहीं आ जाती, कष्ट-सहन के लिये रुचि व्यक्ति में बनी ही रहती है। और जब जब ऐसा अवसर आता है—कष्ट-सहन की इच्छा के कारण वह इस विषय की ओर से उदासीन तो है नहीं—यह इच्छा भावुक और अयुक्तियुक्त तथा मूर्खतापूर्ण गलतियों का कारण बन जाती है, यहां तक कि कभी कभी तो दुःखदायी परिणाम भी उपस्थित कर देती है। कार्य करने से पहले यदि उसे सोचने का अभ्यास है तो भी वे विचार अनिवार्य रूप में अपनी इच्छा से विकृत हो जायंगे, क्योंकि कष्ट के लिये अनुराग तथा दुःखप्रद त्याग के लिये अवसर प्राप्त करने की इच्छा के कारण वे मिथ्या हो जाते हैं।

इस प्रकार सचेतन रूप से या वैसे ही दूसरों के हित के लिये आत्म-त्याग के स्थान पर मनुष्य कष्ट-सहन के रस के लिये कष्ट-सहन करता है, जो अत्यंत मूर्खतापूर्ण है और किसी के लिये भी लाभदायक नहीं।

कोई कार्य तभी अच्छा समझा या हाथ में लिया जाना चाहिये जब हम उसके तुरंत के और यदि संभव हो तो आगे के परिणाम भी जान लें और हमें यह प्रतीत होने लगे कि अंत में ये परिणाम पृथ्वी की भलाई की, चाहे वह कितनी थोड़ी क्यों न हो, वृद्धि करेंगे। पर इस बात को स्वस्थ भाव में विचारने के लिये यह आवश्यक है कि यह ज्ञान किसी प्रकार से भी व्यक्तिगत अभिरुचि या पक्ष से उद्वेलित न हो, जिसका अर्थ है निरासक्ति।

वह निरासक्ति नहीं जो अनुभव करने की शक्ति का नाश कर दे, वरन् जिससे दुःख उठाने की प्रवृत्ति का उन्मूलन हो जाय।

स्पष्ट ही इस समय मैं उन व्यक्तियों को गिनती में नहीं ले रही जो वेदन-शून्य हैं, जो कष्ट उठा नहीं सकते क्योंकि जिस तत्त्व के वे बने हैं, वह अभी अपूर्ण है, अनुभव करने के लिये अत्यधिक स्थूल है, और न ही उन्हें जो कष्ट उठाने के अभी योग्य नहीं हैं।

परंतु जो व्यक्ति वेदनशीलता की उच्च अवस्था प्राप्त कर चुके हैं उनके विषय में कहा

जा सकता है कि उनकी कष्ट उठाने की योग्यता उनकी अपूर्णता का बिलकुल सही माप है।

सच पूछो तो सत्ता के आंतरिक जीवन का सच्चा स्वरूप ही है शांति, आनंदमयी धीरता।

इसलिये हमारे लिये तो दुःख, चाहे वह कैसा भी हो, हमारी दुर्बलता का यथार्थ चिह्न है, उस दुर्बलता का जिसका प्रतिकार हमें महान् आध्यात्मिक प्रयत्नों द्वारा करना होगा।

दुःख के प्रति हमारे इस आकर्षण को दूर करने के लिये हमें अपने दुःखों के विविध कारणों की तुच्छता, उनके क्षुद्र अहंभाव को समझना होगा।

कष्ट-सहन कीं इस प्रबल और हास्यास्पद इच्छा से त्राण पाने के लिये–उस इच्छा से जो प्रायः स्वार्थरत होती है और लाभदायी परिणामों से प्रेरित नहीं होती–हमें यह जान लेना चाहिये कि यदि हमें वेदनशीलता द्वारा मानुषी कष्टों से संबंध रखना है तो जो दुःख स्पष्ट-दर्शी के समक्ष कोरी कल्पना हैं उन्हें हमें काफी सावधानी तथा विवेक से दूर कर देना चाहिये।

इस दृष्टिकोण से मनुष्यों की सहायता करने का केवल यही उपाय है कि उनके दुःख के प्रतिकार में एक ऐसा अविचल और प्रफुल्ल सौम्य-भाव उपस्थित किया जाय जो निर्वैयक्तिक प्रेम का उच्चतम मानुषी प्रकाशन हो।

इस अवस्था में, जो अभी मैंने आपके सम्मुख रखी है, और अवस्थाओं की अपेक्षा यह अधिक ध्यान में रखना आवश्यक है कि सच्चा निर्वैयक्तिक भाव केवल काम करते समय अपने आपको भूल जाने में ही नहीं है वरन् विशेषकर यह भी भूल जाने में है कि व्यक्ति अपने आपको भूल गया है। संक्षेप में, सच्चे रूप में निर्वैयक्तिक बनने के लिये हमें यह भी नहीं अनुभव होना चाहिये कि हम निर्वैयक्तिक हैं।

केवल तभी कोई कार्य एक उदार स्वाभाविकता के साथ अपनी परिपूर्णता में संपन्न हो सकता है।

चौथा सत्संग

४ जून, १९१२

हम अपने संगठन कैसे उन्नत कर सकते हैं?

नित कितने ही संगठन बनते रहते हैं जो प्रायः तत्काल ही समाप्त भी हो जाते हैं। इस विषय पर हमने एक दिन कहा था कि इनकी शीघ्र मृत्यु का कारण यह है कि इनकी रचना में कुछ रूढ़िगत तथा अनियमित तत्त्व प्रवेश कर जाता है।

वास्तव में, इनका निर्माण एक ऐसे आदर्श नमूने को सामने रखकर किया जाता है जो एक या अधिक मस्तिष्कों की उपज होता है, अथवा एक ऐसे सूत्र के अनुसार किया जाता है जो सिद्धांत-रूप में अति सुन्दर होते हुए भी उन व्यक्तियों की नितांत उपेक्षा करता है जिन्हें, अपनी कठिनाइयों और दुर्बलताओं सहित, उस संगठन के सजीव अणु बनना होता है।

मेरे विचार में किसी व्यक्ति या समूह को मनमाना रूप देना असंभव है, उसका रूप तो उसकी रचना के तत्त्वों के गुणों की पूर्ण तथा अनुरूप बाह्य अभिव्यक्तिमात्र होता है।

निर्माण के इस जीवंत नियम की अवहेलना करने से ही संगठनों पर संगठन बनते रहते हैं और फिर सब शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। कारण, ऐसे सजीव संगठन बनने के स्थान पर, जो एक नियमित वृद्धि, विकास और प्रगति के योग्य हो सकते हों, वे केवल एक ऐसा जड़ मिश्रण बन जाते हैं जिसमें उन्नति की जरा भी संभावना नहीं रहती।

हमने यह निश्चय किया था कि हम इस नियम को ध्यान में रखेंगे और अपनी इस छोटी सी गोष्ठी के जीवन की अवस्थाओं को पहले से ही निर्धारित न करने के लिये विशेष सतक रहेंगे। पर इस गोष्ठी का तो अभी जन्म ही नहीं हुआ है, यह तो अभी गर्भ में भी अपनी प्रारंभिक दशा में है। हमें इसे अपने आप ही निर्मित होने के लिये और शनैः शनैः प्रकाश में आने के लिये छोड़ देना चाहिये, उसके लिये नियम आदि बनाने का कार्य पीछे देखा जायगा।

अतः इस संगठन को किसी पूर्वचिंतित योजना के या हममेंसे एक अथवा दूसरे के आदश के अनुसार बनाने का यत्न करना मुझे विनाशकारी प्रतीत होता है। इससे हम कृत्रिम संगठनों के मार्ग पर पड़ जायंगे, जो कि बौद्धिक सिद्धांतों के आधार पर गढ़े जाते हैं। ये उन संगठनों की अपेक्षा जो अपने सदस्यों की विभिन्न प्रवृत्तियों से गठित स्वाभाविक सामूहिक प्रेरणा के अनुसार विकसित होते हैं, अधिक शीघ्र विनाश को प्राप्त होते हैं।

निश्चित ही हमारा संगठन विकसनशील होना चाहिये, क्योंकि लंबी आयु का आधार यही है। और यह तभी हो सकता है जब यह हममेंसे प्रत्येक के लिये उन्नति का साधन बन।

यदि हम इसकी गंभीर और सच्ची उन्नति चाहते हैं तो यह वस्तुतः हमारे ऊपर ही निर्भर करता है।

यदि हम सब अपने साथ यहां अधिक ज्ञान, अधिक विवेक को प्राप्त करने की तीव्र अभीप्सा लायें तो हम एकाग्रता का एक ऐसा वातावरण पैदा कर लेंगे जिसे मैं धार्मिक वातावरण कहना चाहूंगी; यह वातावरण हमें पूर्ण बनाने में अत्यंत उपयोगी होगा।

शब्दों के आदान-प्रदान से आध्यात्मिक वातावरण कहीं अधिक सहायता पहुंचाता है। अति सुन्दर विचार भी हमारी उन्नति में सहायक नहीं हो सकते जब तक कि हममें यह दृढ़ संकल्प न हो कि ये हमारे अंदर अधिक उच्च भावनाओं, अधिक यथार्थ वेदनों तथा अधिक श्रष्ठ कार्यों में रूपांतरित हो जायं।

अतएव अपने संगठन का सुधार करने की आवश्यक शर्त है अपना सुधार करना।

आओ, हम अपने आपको एकत्वमय बनायें, अपनी चेतना को अपनी दिव्य "मैं" की चेतना से तादात्म्यमय कर दें, तब हमारा संगठन अपने आप एकत्वपूर्ण हो जायगा। हम अपनी बौद्धिक शक्तियों को निर्मल करें, प्रकाशयुक्त बनायें, तब हमारा संगठन प्रकाश को अभिव्यक्त करने लगेगा। हम निर्वैयक्तिक प्रेम को अपनी सत्ता में व्याप्त होने दें, तब हमारा संगठन प्रेम प्रसारित करने लगेगा। अंत में हम अपने आपमें व्यवस्था लायें और तब हमारा संगठन अपने आप व्यवस्थित हो जायगा और हमें इसके विधान में कुछ भी अनियमित हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

संक्षेप में, हम सबको उस संगठनरूपी शरीर के सजीव अंग बन जाना चाहिये जिसे हम जन्म देना चाहते हैं। साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि विश्व की समस्वरता में सामूहिक सत्ता का महत्व तथा कार्य उसके अंगों के महत्व पर ही निर्भर करेगा।

पांचवां सत्संग

११ जून, १९१२

मनुष्य अपने चिंतन का स्वामी कैसे बने ?

पहली बात। आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने आपको समझने की कोशिश करते हुए मनुष्य इस बात का पूरा महत्त्व अनुभव करे कि हमारे कर्म हमारे विचारों की ही ठीक अभिव्यक्ति होते हैं और जब तक अपनी मानसिक क्रिया पर हमारा पूरा नियंत्रण नहीं हो जाता, ये सभी प्रकार के बाह्य प्रभावों (वेदनों और प्रेरणाओं) की यांत्रिक प्रतिक्रियामात्र रहते हैं। इस कारण मनुष्य 'अपना' नहीं होता और जब तक वह अपने विचारों का स्वामी नहीं बन जाता तब तक वह किसी प्रकार भी अपना उत्तरदायित्व नहीं ले सकता।

दूसरी बात। मनुष्य में अपनी मानसिक वृत्तियों को सफलतापूर्वक निर्धारित करने का दृढ़ संकल्प हो।

तीसरी बात। वह अपने विचारों को जानने के लिये, उनके स्वाभाविक प्रवाह से परिचित होने के लिये और विशेषकर जो उसके वेदनों-संबंधी तथा भाव-भावना-संबंधी स्वभाव से गूढ़तर सहानुभूति रखते हों उन्हें अच्छी तरह पहचानने के लिये उनका निरीक्षण करे।

चौथी बात। मनुष्य अपने अंदर उस विचार को ढूंढ़े जो सबसे अधिक उच्च, सबसे अधिक विशाल, सबसे अधिक पवित्र तथा सबसे अधिक निष्काम प्रतीत होता हो और उसे ही—जब तक कि उसके स्थान पर वह एक अधिक श्रेष्ठ विचार न स्थापित कर ले—केंद्र बना ले जिसके चारों ओर वह मानसिक समन्वय की रचना करे, उसे आदर्शमान बना ले जिसके प्रकाश से बाकी सब विचार समझे-बूझे और जांचे अर्थात् उन्हें स्वीकार किंवा उनका त्याग करे।

पांचवीं बात। मनुष्य अपने आपको क्रमपूर्वक तथा दैनिक रूप से एक मानसिक संयम के अधीन रखे। इस विषय पर जो शिक्षा और उपदेश मिलते हैं उनमेंसे उस शैली को ढूंढ़े जो सबसे अधिक सार्थक प्रतीत होती हो, और फिर उसका पूर्ण भाव से, नियमपूर्वक, शक्ति और धीरज के साथ पालन करता जाय।

कुछ महत्वपूर्ण निर्देश

हमें आवश्यक मानसिक विश्राम लेना जानना चाहिये।

अपनी सामर्थ्य से अधिक काम अपने ऊपर लेने की कोशिश हमें नहीं करनी चाहिये।

प्रत्येक कार्य में कुछ समय लगता है, इस तथ्य को स्वीकार करते हुए हमें धीरज से अपने पुरुषार्थ के फल की प्रतीक्षा करना जानना चाहिये।

अंत में, जो कुछ हम स्वयं कर सकते हैं उसमेंसे किसी बात की उपेक्षा न करते हुए नन्हें बच्चे के विश्वास के साथ हमें उस सर्वोच्च महान् शक्ति के ऊपर अपने आपको छोड़ना सीखना चाहिये, उस भागवती शक्ति के ऊपर जो सब प्राणियों और सब चीजों में एक है।

छठा सत्संग

१८ जून, १९१२

शब्दों की शक्ति

यह मुझे निरर्थक प्रतीत होता है कि मैं आपका ध्यान उन बहुत से अनुपयोगी शब्दों की ओर खींचूं जो हम नित्य-प्रति उच्चारित करते रहते हैं। इस दोष को स्वीकार सभी लोग करते हैं, परंतु इसका उपाय कम लोग ही सोचते हैं।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत से शब्द हैं जो हम अनुपयोगी तरीके से बरतते हैं। अथवा यूं कहिये कि दिन में बहुत बार कोई शब्द बोलते हुए हमें एक लाभदायक भावना को अभिव्यक्त करने का अवसर मिलता है यदि हमें यह पता हो कि उन अवस्थाओं में शब्द के पीछे क्या भाव रखना चाहिये।

परंतु कितनी ही बार हम अपने मिलनेवालों के चारों ओर एक हितकारी मानसिक वातावरण उत्पन्न करने का ऐसा अवसर खो देते हैं। इस उपेक्षा का प्रतिकार करना प्रत्यक्ष ही अत्यंत हितकर होगा।

इसके लिये हमें अपनी मानसिकता को उस अनिश्चित और निष्क्रिय भाव में निवास करने से रोकना होगा, जिसमें अधिकतर लोगों की प्रायः लगातार ही रहती है।

इस अर्धचेतन अवस्था से उत्तरोत्तर स्वास्थ्य लाभ करने के लिये हमें अवश्य ही, किसी शब्द को उच्चारित करते हुए उसके यथार्थ भाव पर एवं वास्तविक क्षेत्र पर विचार करना चाहिये। इससे हम उस शब्द को उसकी पूरी क्षमता प्रदान कर सकेंगे।

इस संबंध में हम कह सकते हैं कि शब्दों की क्रियाशक्ति तीन विभिन्न कारणों पर निर्भर करती है।

पहले दो कारण तो स्वयं शब्द में ही निहित होते हैं जिससे वह शक्ति का संचेत्र (शक्ति संचय करनेवाला यंत्र) बन जाता है। तीसरा, शब्द प्रयुक्त करने के समय उसके गंभीर भाव को सर्वांगीण रूप में अनुभव करना होता है।

स्वभावतः ही, यदि ये प्रभावकता के तीनों कारण इकट्ठे मौजूद होते हैं तो शब्द की शक्ति बहुत अधिक बढ़ जाती है।

(१) कुछ ऐसे शब्द होते हैं जिनकी ध्वनि भौतिक जगत् में उनके भाव के अपने निजी जगत् के सूक्ष्म स्पंदन का ठीक स्थूलीकृत पूर्ण स्पंदन होती है।

ध्वनि और भाव के साम्य को थोड़ा और पास से देखने पर हमें कुछ ऐसे मूल शब्द मिलेंगे जो सर्वथा व्यापक विचारों को अभिव्यक्त करते हैं और जो अधिकांश बोलने की भाषाओं में लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। (हमें भाषा के इस उद्गम को लिखित भाषाओं के उद्गम के साथ मिला नहीं देना होगा, क्योंकि इन भाषाओं का स्वरूप और है और ये कुछ दूसरी ही आवश्यकताओं को पूरा करती हैं।)

(२) कुछ और शब्द हैं जो शताब्दियों से विशेष परिस्थितियों में दोहराये जाते रहे हैं और जो उन सबकी मानसिक शक्ति से, जो उनका उच्चारण करते रहे हैं, भरपूर हो गये हैं। ये शक्ति के सच्चे संचेत्र बन गये हैं।

(३) अंत में फिर वे शब्द हैं जो बोलने के समय बोलनेवाले के जीवंत भाव से तत्काल एक महत्त्व प्राप्त कर लेते हैं।

मैं जो ऊपर कह चुकी हूं, उसके दृष्टांत के रूप में मैं एक शब्द प्रस्तुत करती हूं। इसमें तीनों प्रकार के गुण मौजूद हैं और यह है संस्कृत का शब्द "ओ३म्"।

इसे भारत में दिव्य उपस्थिति को अभिव्यक्त करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। यह व्यापक रूप में ध्यान, चिंतन और योगाभ्यास से संबद्ध है।

जैसे "ओ३म्" शब्द की ध्वनि शांति, सौम्यता और शाश्वतता के भाव को जाग्रत् करती है वैसे अन्य कोई ध्वनि नहीं करती।

फिर इस शब्द में, इसका प्रयोग करनेवालों की, इसके भावसंबंधी, शताब्दियों की एकत्रभूत मानसिक भावनाएं पूरी तरह से भर गई हैं, विशेषकर हिन्दुओं के लिये तो भागवत सत्ता के साथ संबंध स्थापित करने का यह एक पूरा शक्तिसंपन्न साधन है।

और क्योंकि पूर्व के लोग धार्मिक भाववाले होते हैं और उन्हें चिंतन का अभ्यास होता है, उनमें कम ही ऐसे हैं जो इसकी प्रभावकता के लिये आवश्यक विश्वास के बिना इसे उच्चारित करते हों।

चीन में समान लाभ एक और शब्द से प्राप्त किया जाता है जिसका अर्थ वही है और जिसकी ध्वनि भी 'ओ३म्' शब्द से मिलती-जुलती है। यह शब्द है 'ताओ'।

हमारी पश्चिमी भाषाएं उतनी व्यंजनापूर्ण नहीं हैं, ये अपने वर्तमान स्वरूप में उस मूल भाषा से जिसने इन्हें जन्म दिया था, बहुत दूर हट गई हैं। परंतु हम सदा ही अपने सजीव और सक्रिय भाव की शक्ति से अपने शब्द को जीवंत बना सकते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे सूत्र हैं जिन्हें हम अपने वर्तमान चालू सूत्रों में और जोड़ सकते हैं।

ये सूत्र कई एक प्राचीन गुह्यविद्या के संप्रदायों में बरते जाते थे। इनका अभिवादन के शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता था और उन लोगों के मुंह में जो इनपर विचार करना जानते थे ये विशेष प्रभावपूर्ण तथा फलोत्पादक हो जाते थे।

ऐसे शिष्यों को जिन्हें नई नई दीक्षा मिली होती थी और जिन्होंने मार्ग पर अभी पहला पग ही रखा होता था, कहा जाता था : "तुम्हें समता की शक्ति प्राप्त हो।"

उन्हें, जिन्होंने अपने अनवरत तथा विकसनशील हितभाव को अपने आंतरिक और बाह्य मनोभाव से प्रमाणित कर दिया था, कहा जाता था : "तुम्हें पूर्ण हित प्राप्त हो।"

और कुछ गुरुओं के दृष्टांत में, जिन्हें विशेष उच्च शक्तियां प्राप्त होती थीं, ये शब्द रोग-मुक्त करने के समान कई वास्तविक सिद्धियां भी प्रदान करने का सामर्थ्य रखते थे।

सातवां सत्संग

२५ जून, १९१२

फैलाने को सबसे उपयोगी विचार तथा प्रस्तुत करने को सर्वोत्तम दृष्टांत क्या है ?

इस प्रश्न पर दो दृष्टियों से विचारा जा सकता है। एक तो बहुत व्यापक दृष्टि से, सारी पृथ्वी को ध्यान में रखकर और दूसरे सविशेष, अपनी वर्तमान सामाजिक परिस्थिति के संबंध से।

व्यापक दृष्टि से, मैं समझती हूं, फैलाने के लिये सबसे उपयोगी विचार द्विविध है :

१. मनुष्य के अंदर पूर्ण बल, बुद्धि और ज्ञान निहित हैं और यदि वह इन्हें उपलब्ध करना चाहता है तो उसे अंतर्निरीक्षण तथा एकाग्रता के अभ्यास द्वारा इन्हें अपनी सत्ता की गहराई में खोजना चाहिये।

२. ये दिव्य गुण, सभी सत्ताओं के केंद्रस्थान में, हृदय में समान रूप से वास करते हैं; वही सबकी सारभूत एकता का स्रोत है और वहीं से संगठन और भ्रातृभाव के सब फल प्राप्त होते हैं।

प्रस्तुत करने योग्य सर्वोत्तम दृष्टांत अमिश्रित सौम्य-भाव और अचल शांतिमय प्रसन्नता का दृष्टांत होगा, जो वस्तुतः उस व्यक्ति के स्वाभाविक गुण होते हैं जो सबमें विद्यमान एक भगवान् के उपर्युक्त विचार को समग्रतया अपने जीवन में उतारना जानता है।

हमारी वर्तमान परिस्थिति के दृष्टिकोण से जो विचार मुझे प्रचार करने के लिये सबसे अधिक उपयोगी प्रतीत होता है वह यह है:

किसी भी बाह्य साधन से, स्थूल अवस्थाओं के सुधार या सामाजिक परिवर्तन से मनुष्य का सच्चा उन्नतिशील विकास नहीं हो सकता, ऐसा विकास जो उसे उस आनंद की अवस्था की ओर ले जाय जिसका कि वह अधिकारी है। यह तो आंतरिक और गंभीर वैयक्तिक विकास से ही हो सकता है। ऐसा विकास ही सच्ची उन्नति है, जो वर्तमान स्थिति को रूपांतरित कर सकती है और दुःख-दारिद्रय को सौम्य और स्थायी आनंद में परिवर्तित कर सकती है।

अतएव, सर्वोत्तम दृष्टांत है पहली व्यक्तिगत पूर्णता का दृष्टांत जो अन्य पूर्णताओं के लिये रास्ता बना देती है और जो हमारी अहमात्मक व्यक्तित्व पर पहली विजय होनी चाहिये। यह है निःस्वार्थता।

इस समय जब कि सब कोई अपने असंख्य लोभों की तृप्ति के साधन के रूप में धन के पीछे दौड़ रहे हैं, वे व्यक्ति, जो धन-संपत्ति के प्रति उदासीन रहेंगे और किसी मुनाफे के लिये काम नहीं करेंगे बल्कि शुद्ध रूप में किसी निःस्वार्थ आदर्श के पालन करने के लिये काम करेंगे, निःसंदेह ऐसा दृष्टांत प्रस्तुत करेंगे जो इस समय उपयोगी है।

आठवां सत्संग

२ जुलाई, १९१२

किस प्रकार के व्यक्ति मेरे सबसे अधिक निकट हैं और उनके बीच में कार्य करने का मेरा आदर्श क्या होगा?

जीवन सदा ही हमारे रास्ते में, किसी न किसी ढंग से, ऐसे व्यक्ति प्रस्तुत करता है जो कई कारणों से हमारे निकट होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति, जैसा कि वह स्वयं है, उसके अनुसार अपना वातावरण उत्पन्न कर लेता है।

और, यदि व्यक्तियों में कार्य क ना ही हमारा प्रधान कर्म हो तो वे सब व्यक्ति जिनसे हम इस प्रकार मिलते हैं ठीक वही होते हैं जिनके लिये हम अधिकतम उपयोगी हो सकते हैं।

सदा आध्यात्मिक चेतना में निवास करनेवाले व्यक्ति के लिये उन सब घटनाओं का

जो उसके साथ घटित होती हैं एक विशेष महत्त्व होता है, साथ ही वे सब उसके उत्तरोत्तर विकास में सहायक भी होती हैं। ऐसा व्यक्ति अपने सब संपर्कों का अत्यधिक उपयोगी रूप में अवलोकन करेगा, उनके प्रत्यक्ष और गहन कारणों का अध्ययन करेगा और अपनी उपकार-भावना से प्रेरित होकर यह जानना चाहेगा कि इन विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों में से प्रत्येक का वह क्या हित कर सकता है। आध्यात्मिकता का जितना अंश उसके अपने अंदर होगा उसी के अनुसार उसका कार्य भी आध्यात्मिक प्रभाव से युक्त होगा, यह प्रभाव कम या अधिक हो सकता है पर होगा अवश्य।

जो संबंध हम अपने साथियों से प्राप्त करते हैं उनके कारणों का यदि हम थोड़ा ध्यानपूर्वक निरीक्षण करें तो हमें पता चलेगा कि ये हमारी सत्ता की विभिन्न गहराइयों में, हमारी सचेतन क्रिया की विशेष प्रणाली के अनुसार, बने होते हैं।

इन संबंधों को हम अपने कर्म के चार प्रधान प्रकारों के अनुसार चार श्रेणियों में बांट सकते हैं, भौतिक, प्राणिक, आंतरात्मिक और मानसिक। और ये संबंध हमारे कर्म के गुण और प्रकार के अनुसार इन श्रेणियों में से एक अथवा अधिक के, एक साथ या बारी बारी से, अंतर्गत आ सकते हैं।

भौतिक संबंध तो वस्तुतः अनिवार्य है, क्योंकि हम भौतिक-शरीरधारी हैं। यह संबंध स्वभावतः उनके साथ होता है जिन्होंने हमें यह शरीर प्रदान किया है, साथ ही उन सबके साथ भी, जो भौतिक रूप में उनपर निर्भर करते हैं। ऐसे संबंध माता, पिता और कुटुंबिजनों के साथ होते हैं। कुछ संबंध आकस्मिक और अनिश्चित होते हैं, उदाहरणार्थ, पड़ोसियों, सहयात्रियों तथा सड़क पर मिलनेवालों के साथ। (यहां एक बात मेरे ध्यान में आती है और यह संबंध की अन्य तीन श्रेणियों पर भी लागू होती है। वह यह कि ऐसा संबंध केवल भौतिक ही नहीं होता; ऐसा तो शायद ही होता हो क्योंकि हम कभी बिरले ही अपनी सत्ता के केवल एक ही स्तर पर क्रियाशील रहते हैं। जो मैं कहना चाहती हूं वह यह कि यहां भौतिक संबंध की प्रधानता होती है।)

प्राणिक संबंध कामनाओं और इच्छाओं के साम्य के परस्परपूरक अथवा संवर्धक भाव पर निर्भर करता है।

आंतरात्मिक संबंध समकेंद्रिक आध्यात्मिक अभीप्साओं से निर्धारित होता है।

मानसिक संबंध मन के सम अथवा पूरक शैली के सामर्थ्यों और आकर्षणों पर निर्भर करता है।

सामान्यतः और यदि इनमेंसे पहली श्रेणी का प्रभुत्व स्पष्ट रूप से स्थापित हो गया है—और यह तभी हो सकता है जब कि सत्ता की गहराई तथा जटिलता में पर्याप्त रचनात्मक श्रेणीकरण हो जाय—तो हम उन्हें, जो भौतिक कारणों से हमारे समीप हैं, भौतिक रूप में सहायता दे सकते हैं और हमें देनी चाहिये भी।

अपवादों को छोड़कर, अपने कुटुंबिजनों के लिये तथा उनके लिये जिनसे हम गाड़ी, जहाज अथवा ट्राम आदि में मिलते हैं यह भौतिक सहायता ही सर्वोत्तम सहायता होती है और इसका रूप होता है रुपये-पैसे की सहायता तथा बीमारी अथवा संकट के समय की सेवा-सहायता।

जो लोग समान रुचियों—कलासंबंधी अथवा दूसरी—के कारण हमारी ओर आकर्षित

हुए हैं उनकी संवेदनशील सत्ता की हमें सहायता करनी चाहिये; ऐसा हम उनकी इंद्रिय-जनित शक्तियों को शुद्ध रूप, समस्थिति तथा नई दिशाएं देकर कर सकते हैं।

जिन व्यक्तियों के साथ हमारा उन्नति की समान अभीप्सा के कारण संबंध स्थापित होता है उनकी सहायता हम, अपने उदाहरण द्वारा, उन्हें मार्ग दिखाकर तथा अपने प्रेम द्वारा उनके मार्ग के ऊबड़-खाबड़पन को कम करके कर सकते हैं।

अंत में, जो लोग मानसिक आकर्षणों के कारण हमारे निकट आते हैं उनके प्रति हमारा कर्तव्य यह है कि हम उनकी बुद्धि के प्रकाश को तेज करें जिससे, यदि संभव हो तो, उनका विचार-क्षेत्र व्यापक हो जाय और उनका आदर्श अधिक स्पष्ट।

ये विभिन्न आकर्षण बाह्य व्यवहार में, बहुत बार मिलने के स्वरूप में, सूक्ष्म प्रभेदों द्वारा अपने आपको अभिव्यक्त करते हैं और ये हमसे प्रायः छूट जाते हैं क्योंकि हमारा निरीक्षण पर्याप्त रूप में कम ही सजग होता है।

किंतु अपने कार्य की दिशा ठीक रखने के लिये तथा अपने साथियों के प्रति अपनी वृत्ति की त्रुटियों को यथासंभव कम करने के लिये हमें अपने संबंधों के अनेकों कारणों का सदा बड़े ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिये; साथ ही हमें उन साम्यों का स्वरूप भी जानना चाहिये जो उन संबंधों को निर्धारित करते हैं।

ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं जो एक ही समय सत्ता के इन चारों प्रकार के संबंधों से हमारे निकट हैं। ये ही, शब्द के गहनतम अर्थ में, हमारे मित्र हैं। इन्हीं के लिये हम अत्यधिक समग्र और पूर्ण रूप से उपयोगी और हितकारी कार्य कर भी सकते हैं।

हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि दो मानव-जीवनों के संपर्क का स्थायित्व इस बात पर निर्भर करता है कि उनको जोड़नेवाले आकर्षण सत्ता के कितने स्तरों पर तथा इन स्तरों की कितनी गहराई तक सक्रिय हैं।

केवल वही व्यक्ति जो अपनी सत्ता तथा समस्त वस्तुओं की सनातन सत्ता से युक्त हैं आपस में सदा के लिये संयुक्त हो सकते हैं।

जो इस प्रकार संयुक्त हैं वही सदा के मित्र हैं, चाहे दूर हों, चाहे पास, चाहे इस जगत् में, चाहे दूसरे जगतों में।

और ऐसे मित्रों के साथ हमारा मिलना ऐसे किसी पूर्व-मिलन पर निर्भर करता है जो हममें, हमारी सत्ता की अज्ञात गहराइयों में हो चुका है।

इसके अतिरिक्त जब कभी ऐसा मिलन होता है तो हमारा भाव समग्रतः बदल जाता है।

जब व्यक्ति अंतःस्थित भगवान् के साथ एक हो जाता है तो वह सबके साथ उनकी गहाराई तक में एक हो जाता है; वास्तव में दूसरे सब व्यक्तियों के साथ संबंध भगवान् में और भगवान् के द्वारा ही होना चाहिये। तब वह बिना आसक्ति और विरक्ति के, बिना राग और द्वेष के जो भगवान् के निकट है उसके निकट और जो दूर है उससे दूर अनुभव करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि हमें दूसरों के बीच, सदा तथा अधिकाधिक, जितना बौद्धिक और आध्यात्मिक व्यवहार का उतना ही सर्वांगीण व्यवहार का, दिव्य दृष्टांत बनना चाहिये और इस प्रकार उनके लिये दिव्य जीवन को समझने तथा उसका अनुसरण करने के लिये अवसर प्रस्तुत करना चाहिये।

स्फुट वचन

संग्रह १

भगवान् के बिना जीवन एक दुःखद भ्रम है, भगवान् के साथ सब आनंद ही आनंद।

*

भगवान् की बांहों में विश्राम लेने से सब कष्ट दूर हो जाते हैं, कारण, ये बांहें हमें आश्रय देने के लिये सदा प्रेम से खुली रहती हैं।

*

भगवान् की ओर मुड़ो, तुम्हारे सब दुःख दूर हो जायंगे।

*

भगवान् के प्रति सच्चा आत्मनिवेदन करने से ही हम अपने अत्यंत मानवीय कष्टों से आराम पा सकते हैं।

*

शांति होनी चाहिये खूब अधिक, निश्चलता गंभीर और अचल, स्थिरता दृढ़, और भगवान् में विश्वास सतत-वर्द्धनशील।

*

भगवान् के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने का शांत भाव में प्रसन्न अनुभव करने से अधिक अच्छा उपाय और नहीं है।

*

भगवान् जो दें उसे सदा प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करो।

*

सब कुछ स्वर्णिम था, स्वर्णिम केवल स्वर्णिम, स्वर्णिम प्रकाश की एक वेगवती धारा अविच्छिन्न रूप में नीचे को आ रही थी और साथ में यह चेतना जाग्रत् कर रही थी कि देवताओं का मार्ग ज्योतिर्मय मार्ग है जिसमें कठिनाइयों की कुछ सत्ता ही नहीं रहती।

ऐसा है वह मार्ग जो हमारे सामने खुला है, इसे ग्रहण करना बेशक हमपर निर्भर करता है।

★

मुस्कराहट का कठिनाइयों पर वही प्रभाव होता है जो सूर्य का बादलों पर—वह उन्हें भगा देती है।

★

शत्रु पर मुस्करा दो, वह निःशस्त्र हो जायगा।

★

आत्म-विजय सबसे बड़ी विजय है, यह सब स्थायी सुखों का आधार है।

★

अपने सुख की फिकर में रहना दुःखी होने का निश्चित मार्ग है।

★

सुख जीवन का उद्देश्य नहीं है।

सामान्य जीवन का उद्देश्य है अपना कर्तव्य पालन करना और आध्यात्मिक जीवन का भगवान् को प्राप्त करना।

★

यदि हम अपनी प्रसन्नता अक्षुण्ण और सुरक्षित रखना चाहते हैं तो हमें अधिकतम यत्न करना होगा कि असद्भावपूर्ण विचारों का ध्यान उधर आकर्षित न हो।

★

शांति और निश्चलता रोगों के महान् उपाय हैं।

जब हम शांति को अपने कोषाणुओं के भीतर लाने में सफल होते हैं तब हम रोगमुक्त हो जाते हैं।

★

शरीर को रोग का विवर्जन ऐसे बलपूर्वक करना चाहिये जैसे मन में से हम मिथ्यात्व का करते हैं।

★

अभी तक जगत् में सुख और स्वास्थ्य सामान्य अवस्थाएं नहीं हैं।

हमें उन्हें विरोधी भावों के आक्रमण से यत्नपूर्वक बचाना चाहिये।

★

अंतरात्मा में ही सतत आनंद का स्रोत है। पार्थिव जीव में अंतरात्मा को छोड़कर कुछ भी स्थायी नहीं है।

★

यदि कला को दिव्य जीवन का कुछ अभिव्यक्त करना है, तो वहां भी विशाल तथा ज्योतिर्मय शांति की अभिव्यंजना अनिवार्य होगी

★

भगवान् में हमारा विश्वास वाह्य अवस्थाओं पर आधारित नहीं होना चाहिये।

*

भगवान् को जानने के लिये हमें उससे अन्य कुछ नहीं चाहना चाहिये।

*

भगवान् से वास्तव में प्रेम करने के लिये हमें आसक्तियों से ऊपर उठना होगा।

*

दिव्य प्रेम से सचेतन होने के लिये हमें अन्य सब प्रेम छोड़ने होंगे।

*

बेचारा भगवान्! कैसे भयंकर उत्पातों के दोष उसपर आरोपित किये जाते हैं। यदि ये आरोप सत्य हों तो वह कैसा दैत्य होना चाहिये जो वस्तुतः है पूर्णतया करुणामय।

*

हमारे सब विचार, हमारी सब भावनाएं भगवान् की ओर ही जायंगी उसी तरह जैसे नदी समुद्र की ओर जाती है।

*

जीवन में हमारी एक यही आवश्यकता हो, भगवान् को पाना।

*

अपनी आत्मा के विश्वास में केवल भगवान् को ही लो।

*

जो भगवान् चाहते हैं वही चाहना—यही परम रहस्य है।

*

केवल भगवान् का ही चिंतन करो और वे तुम्हें प्राप्त हो जायंगे।

*

हमारा सारा जीवन एक भगवद्-अर्पित अर्चना होना चाहिये।

*

भगवान् के लिये कार्य करना शरीर से प्रार्थना करना है।

*

हमें केवल भगवान् की ही सेवा में होना चाहिये, अन्य किसी सेवा में नहीं।

*

भगवान् के निकट तुम्हारा उतना ही मूल्य है जितना तुम उन्हें दे चुके हो।

*

जो तुम भगवान् को दे चुके हो केवल वही सुरक्षित है।

*

यात्रा कितनी भी लंबी क्यों न हो और यात्री कितना भी महान् क्यों न हो, अंत में भागवत कृपा पर ऐकांतिक भरोसा ही देखते हैं।

*

जब हम कोई निर्णयात्मक आध्यात्मिक उन्नति कर लेते हैं तब भगवान् के अदृश्य शत्रु

सदा बदला लेने की कोशिश करते हैं और जब वे आत्मा को हानि नहीं पहुंचा सकते तब वे शरीर पर आघात करते हैं। परंतु उनके सब प्रयत्न व्यर्थ हैं और अंत में उनकी हार होगी ही क्योंकि भागवत कृपा हमारे साथ है।

★

हमें भागवत कृपा पर ही भरोसा करना तथा सब अवस्थाओं में उसे ही सहायता के लिये बुलाना सीखना चाहिये। तब वह लगातार चमत्कारपूर्ण कार्य करेगी।

★

आओ, हम अपनी संकल्प-शक्ति भागवत कृपा-शक्ति को अर्पित करें; वस्तुतः यह कृपा-शक्ति ही सब कुछ सिद्ध करती है।

★

जितना हमारा भगवान् पर भरोसा होता है उसी के अनुसार ही भागवत कृपा हमारे लिये कार्य कर सकती है तथा हमें सहायता पहुंचा सकती है।

★

भागवत कृपा के समक्ष कौन योग्य है और कौन अयोग्य?
सब एक तथा उसी मां के बच्चे हैं।
उसका प्रेम सबके ऊपर बराबर विकीर्ण हो रहा है।
पर वह देती है हर एक को उसकी प्रकृति तथा ग्रहणशीलता के अनुसार।

★

आओ, हम अशेष भाव से अपने आपको भगवान् को अर्पित करें। इसी प्रकार हम भागवत कृपा अधिकतम प्राप्त कर सकेंगे।

★

परमोच्च ने अपनी कृपा जगत् में इसकी रक्षा के लिये ही भेजी है।

★

पर्वतीय मार्ग सदा दो दिशाओं में ले जाता है, ऊपर को और नीचे को—सब कुछ निर्भर इसपर करता है कि हम अपने पीछे किस दिशा को रखते हैं।

★

अंधकारमय भौतिक प्रकृति पर प्राप्त प्रत्येक विजय एक भावी महान् विजय का आश्वासन होती है।

★

विश्व की सतत प्रगति में जो कुछ भी चरितार्थ होता है वह केवल एक नई तथा बृहत्तर चरितार्थता के लिये प्रथम पग होता है।

★

किसी इच्छा को जीतने में उसके उपभोग की अपेक्षा अधिक आनंद होता है।

★

आओ, हम उस सबको जो हममें दिखावे की भावना को बढ़ानेवाला है, सदा खूब सावधानी से दूर रखें।

★

तुम भय से पूर्णतया केवल तभी मुक्त हो सकते हो जब कि तुम अपने अंदर से सब हिंसा को निकाल दो।

*

सच्चे साहस में न अधीरता होती है न आवेश।

*

साहस आत्मा की कुलीनता का चिह्न है।

*

परंतु साहस होना चाहिये अचंचल, अपना स्वामी, उदार तथा परोपकारी।

*

अपने दोष स्वीकार करना उच्चतम साहस का एक रूप है।

*

ईर्ष्या तथा इसकी सहयोगिनी निंदा निर्बल तथा तुच्छ व्यक्ति की चेष्टाएं होती हैं। ये क्रोध की अपेक्षा अधिक दया की पात्र हैं। हमें इनके प्रति पूर्णतया उदासीन रहना चाहिये, अपनी स्थिर निश्चयता के आनंद का उपभोग करते हुए।

*

क्रोध तथा अपमान से ऊपर उठकर मनुष्य वस्तुतः महान् बन जाता है।

*

सदा सत्य बोलना कुलीनता का उच्चतम अधिकार-पत्र है।

*

कला में भी हमें सदा उच्च स्तरों पर रहना चाहिये।

*

सद्रुचि कला की कुलीनता है।

*

देवताओं को भी परमोच्च के प्रति समर्पण करना होता है। इसके बिना दिव्य सृष्टि पृथ्वी पर चरितार्थ नहीं हो सकती।

*

अज्ञान में मानसिक विचार सदा ही एक दूसरे का विरोध करते हैं।
सत्य में वे उच्चतर ज्ञान के संपूरक पक्ष होते हैं।

*

प्रत्येक को उसकी समझ की योग्यता के अनुसार बात कही जाती है।
फलतः एक को दिया हुआ ज्ञान दूसरे के लिये ठीक अथवा उपयोगी नहीं भी हो सकता। यही कारण है कि गुरु की व्यक्तिगत शिक्षा दूसरे को नहीं बतानी चाहिये।

*

बरतन फिर से भरा जा सके इसके लिये आवश्यक है कि वह कभी कभी खाली हो जाया करे।
ठीक जब हम बृहत्तर प्राप्तियों के लिये तैयार हो रहे होते हैं हम खाली अनुभव करते हैं।

*

प्रकृति की ये तथाकथित शक्तियां वास्तव में किन्हीं सत्ताओं की वाह्य चेष्टाएं हैं जो अपने प्रमाण तथा बल-सामर्थ्यों में मनुष्य से कहीं बड़ी हैं।

*

एक ऐसा सूक्ष्म जगत् है जहां तुम चित्रों, उपन्यासों, सब प्रकार के नाटकों तथा सिनेमा के लिये भी सब संभव विषय देख सकते हो।

वहीं से अधिकतर कलाकार अपनी प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

*

विश्व के चमत्कारों का कोई अंत नहीं।

जितने ही हम अपने अहं की सीमाओं से मुक्त होते हैं उतने ही ये चमत्कार अपने आप हमपर प्रकट होते हैं।

*

अपने अहं पर विजय पाना कुछ सरल काम नहीं है।

भौतिक चेतना में इसे जीत लेने के वाद हम इसे फिर–बृहत्तर रूप में–आध्यात्मिक चेतना में पाते हैं।

*

प्रभु करे कि अभीप्सा का सूर्य अहंकार के बादलों को छिन्न-भिन्न कर दे।

*

हृदय की नीरवता में अभीप्सा की स्थिर अग्नि जला करती है।

*

प्रत्येक ध्यान एक नया प्राकट्य होना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक ध्यान में कुछ नया घटित होता है।

*

प्रत्येक नई उषा नई उन्नति की संभावना लाती है।

*

हम बिना उतावलेपन के पथ पर अग्रसर होते हैं, क्योंकि हम अपने भविष्य के बारे में विश्वस्त हैं।

*

जैसी वस्तु से कोई प्रेम करता है उसी के अनुरूप वह स्वयं विकसित हो जाता है।

*

हमें वही चीजें घेरे रहती हैं जिनका हम चिंतन करते हैं।

*

विरोधी शक्तियों के बारे में लगातार सोचना और उनसे भय खाना अत्यंत भयंकर निर्बलता है।

*

एकाग्रता और संकलपशक्ति वैसे ही विकसित की जा सकती हैं जैसे मांस-पेशियां; नियमित प्रशिक्षण और अभ्यास से वे विकसित हो जाती हैं।

*

हमारी चेतना एक नन्हें पक्षी के समान है; इसे भी अपने पंखों का प्रयोग सीखना होगा।

*

दिन और रात उपस्थिति लगातार मौजूद है। नीरवतापूर्वक अंदर मुड़ना ही पर्याप्त है, और हम इसे अधिगत कर लेते हैं।

*

यदि हम मिथ्यात्व को, वह कितना भी कम क्यों न हो, अपने मुख अथवा लेखनी से अभिव्यक्त होने दें, तो हम सत्य के पूर्ण संदेश-वाहक बनने की कैसे आशा कर सकते हैं। सत्य के पूर्ण सेवक को रत्तीभर व्यतिरेक, अतिरंजन अथवा विकृति से भी बचना चाहिये।

*

सद्हृदयता में है विजय की निश्चयता। सद्हृदयता! सद्हृदयता! तेरी उपस्थिति की पवित्रता कितनी मधुर है!

*

सरलता में निश्चय ही बहुत बड़ी सुन्दरता है।

*

यदि मनुष्य प्रतीक्षा करना जानता हो तो समय उसका सहायक हो जाता है।

धैर्य होने से मनुष्य सदा ही ध्येय पर पहुंच जाता है। अध्यवसायी चित्त सब बाधाओं को जीत लेता है।

*

पूर्णता अधिकतम अथवा आत्यंतिक भाव की द्योतक नहीं। यह एक संतुलन तथा समस्वरता है।

*

आवेग के अधीन काम मत करो।

*

किसी आवेगमय व्यक्ति का जीवन, जो अपने को संयम में नहीं रख सकता, व्यवस्था-हीन होता है।

*

जब दो व्यक्ति लड़ते हैं तो सदा दोनों की ही भूल होती है।

*

संयत रहन-सहन से कभी किसी को हानि नहीं पहुंची है।

*

व्यर्थ के शब्दों से दुनिया के कान बहरे हो रहे हैं।

*

किसी की कुलीनता उसके कृतज्ञ-भाव की क्षमता से जांची जाती है।

*

कोई शिक्षा तभी लाभप्रद हो सकती है जब वह सच्चे दिल से दी जाय, और इसका अर्थ यह है कि जिस समय वह दी जाय उस समय वह जीवन का अंग हो। बहुत बार दुहराये गये शब्द, बहुत बार कहे गये विचार फिर सच्चे नहीं रहते।

*

उद्देश्य अपने आपको भागवत चेतना में खोना नहीं। उद्देश्य तो यह है कि भागवत चेतना जड़तत्त्व में प्रवेश करे और इसे रूपांतरित कर दे।

*

प्रभु, तेरे बिना जीवन एक भयंकर विकृति है। तेरे प्रकाश, तेरी चेतना, तेरे सौंदर्य और तेरी शक्ति के बिना सारा जगत् एक बुरा तथा भद्दा मजाक है।

*

प्रभु, तेरा प्रेम इतना बड़ा, इतना उच्च और इतना पवित्र है कि हम इसे समझ ही नहीं सकते। यह अपरिमेय और अनंत है: इसे हमें नतमस्तक होकर ग्रहण करना चाहिये। फिर भी तूने इसे इतना मधुर बनाया है कि हममेंसे निर्बल से निर्बल भी, एक बच्चा भी, तेरे पास आ सकता है।

*

हे प्रभु, जो कुछ है तथा जो कुछ होगा उस सबकी तह में तेरी दिव्य तथा एकरस मुस-कान उपस्थित है।

*

बच्चे, तुम मुझसे कहते हो, "मुझसे प्रेम करने का अर्थ है जो मैं चाहता हूं करो।" परंतु मैं तुमसे कहती हूं कि भगवान् के लिये सच्चे अर्थों में किसी से प्रेम करने का मतलब ह उसके वास्तविक हित की बात करना।

*

बिना अपवाद के, सब कोई, जब वे भगवान् की ओर प्रवृत्त होते हैं, मांग करते हैं कि वह उनके लिये ठीक उनकी इच्छा के अनुसार सब कुछ करे। परंतु भगवान् हर एक के लिये वह करता है जो उसके लिये प्रत्येक दृष्टि से उत्तम होता है। फिर भी, मनुष्य, अपने अज्ञान और अंधता में, जब उसकी इच्छा पूरी नहीं होती तो, भगवान् के विरुद्ध विद्रोह करता है और कहता है: "तुम मुझसे प्रेम नहीं करते।"

*

आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक महत्त्व इस बात का नहीं कि तुम क्या करते हो बल्कि इस बात का कि तुम उसे कैसे करते हो तथा उसमें तुम क्या चेतना भरते हो। भगवान् को सदा स्मरण रखो और तब तुम जो कुछ भी करोगे वह भागवत उपस्थिति की अभिव्यंजना होगा।

जब तुम्हारे सब कर्म भगवदर्पित होंगे तब उनमें न तो कोई कर्म ऊंचे होंगे न नीचे; सब का समान मूल्य होगा—वह मूल्य जो कि उन्हें समर्पण से प्राप्त होगा।

*

यदि तुम भगवान् तथा उसको अभिव्यक्त करनेवाले गुरु के आज्ञाकारी और समर्पित सेवक बनने से इन्कार करते हो तो इसका अर्थ है कि तुम अपनी अहंता, अपने मिथ्याभिमान, अपनी अहंपूर्ण महत्त्वाकांक्षा के दास बने रहोगे, तथा राक्षसों के हाथ के खिलौने बने रहोगे, जो तुम्हें अपने वश में रखने के प्रयास में—और इसमें वे हमेशा ही असफल नहीं रहते—तुम्हें चमकती आकृतियों से लुभाया करते हैं।

*

संदेह कोई खेल नहीं जिसका निरापद आनंद लिया जा सकता हो। यह तो विष है जो बूंद-बूंद करके आत्मा को खा जाता है।

*

जगत् की वर्तमान अवस्था में भगवान् के प्रति पूर्ण अनुवर्तिता अनिवार्य आवश्यकता बन गई है।

*

दुर्भाग्य की अपेक्षा सफलता की परीक्षा में उत्तीर्ण होना अधिक कठिन होता है।

*

सफलता की घड़ी में ही मनुष्य को अपने आपसे ऊंचा उठने के लिये अधिक सावधान रहने की आवश्यकता होती है।

*

कठिनाइयों को जीतने के लिये आहों की अपेक्षा मुस्कराहट में अधिक बल होता है।

*

अपनी अहंता ही दूसरों की अहंता से दुःख और आश्चर्य मानती है।

*

पूर्णतया सद्हृदय हो जाओ और तब कोई भी विजय तुम्हें अप्राप्य नहीं रहेगी।

*

भूल करने के मार्ग अनेक हैं पर ठीक होने का केवल एक ही है।

*

जो आंतरिक निर्बलताएं हमें जीतनी हैं उन्हें दर्शाने के लिये ही बाह्य अवस्थाएं आ प्रस्तुत होती हैं।

*

केवल उसी की हार नहीं होती जो हार खाने से इन्कार कर देता है।

*

सभी मतवादों में कुछ सत्य होता है और कुछ असत्य। दूसरों के मतों को बिना उद्विग्न हुए सुन सकना, निश्चय ही, एक महान् तथा उपयोगी गुण है।

*

नैतिक नियमों को तुम तभी तोड़ सकते हो जब तुम दिव्य विधान का पालन करने लगो।

*

यदि तुम सम्मान चाहते हो तो सदा सम्माननीय रहो।

*

दूसरों पर शासन करने की आशा किसी को तभी करनी चाहिये जब वह पहले अपने पर संयम रख सकता हो।

*

जिसमें सच्चे न्याय की पूर्ण भावना हो वही दूसरों से आज्ञापालन की मांग कर सकता है।

*

दूसरों के प्रति कड़ा होने से पहले मनुष्य को अपने प्रति कड़ा होना चाहिये।

*

भय दासता है, कार्य स्वाधीनता, तथा साहस विजय।

*

आओ, कर्म हम ऐसे करें जैसे प्रार्थना, क्योंकि अवश्य ही कर्म भगवान् के प्रति शरीर की सर्वोत्तम प्रार्थना है।

*

जो काम प्रेम द्वारा तथा प्रेम के लिये किया जाता है, वही निःसंदेह सबसे अधिक प्रभावशाली होता है।

*

यदि और जब तक संपूर्ण वैयक्तिक चेतना केंद्रीय भागवत उपस्थिति के चारों ओर संगठित नहीं हो जाती, तब तक गतियां क्षणिक यद्यपि पुनरावर्ती होती हैं और हम इनसे स्थायित्व की आशा नहीं कर सकते।

*

वीरता का अर्थ है हर अवस्था में सत्य का पक्ष लेना, विरोध होते हुए भी इसकी घोषणा करना और जब जब आवश्यकता हो इसके लिये संघर्ष करना।

तथा सदा अपनी उच्चतम चेतना से कर्म करना।

*

अवश्य ही वह सौभाग्यशाली है जो भगवान् से प्रेम करता है, क्योंकि भगवान् सदा उसके साथ हैं।

*

अधिक अनन्य भाव से भागवत प्रेम का आश्रय लो। जब मनुष्य को भागवत प्रेम प्राप्त होने लगता है तब किसी मानुषी प्रेम का क्या मूल्य रह जाता है?

*

मानुषी प्रेम के पीछे सदा ही एक कटु अनुभव रहता है—केवल भागवत प्रेम ही कभी निराश नहीं करता।

*

भागवत प्रेम का सहज प्रत्युत्तर तुम्हारी अभीप्सा की सद्हृदयता पर निर्भर करता है।

*

समत्व की गंभीर शांति में प्रेम वर्द्धित होगा और अटूट शुद्ध एकत्व के बोध में अपना पूर्ण विकास प्राप्त करेगा।

*

सच्चा प्रेम और आत्मदान, किसी कष्टसाध्य "तपस्या" की अपेक्षा बहुत अधिक शीघ्रता से भगवान् तक ले जाते हैं।

*

चैत्य केंद्र की चेतना में निवास करो; ऐसा करने पर तुम्हारी इच्छा एकमात्र भगवान् की इच्छा को ही प्रकट करेगी और तुम्हारी रूपांतरित सत्ता भगवत्प्रेम को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने में समर्थ होगी।

*

मंदिर के अंदर खूब गहरे पैठो और वहां तुम मुझे प्राप्त करोगे।

*

प्रथम पग है पूर्ण अचलता और समता।

*

केवल अचलता और शांति में ही मनुष्य सर्वोत्तम करणीय कर्म को जान सकता है।

*

विस्तृत शांति और अचलता उपस्थित हैं, बिलकुल तुम्हारे लिये तैयार; तुम अपने आपको उनके प्रति उद्घाटित करो और प्राप्त करो।

*

अपनी बाह्य अवस्थाओं से तटस्थ होने का यत्न करो—केवल उन्हीं में ऐसी बातों से विघ्न हो सकता है—तुम शांति अंदर खोजो जहां वह सदा निर्विघ्न बनी रहती है।

*

तुम्हारे ऊपर और अंदर जो चेतना काम कर रही है उसकी ओर अपने आपको खोलो और सदा शक्तिभर अचंचल और शांतिपूर्ण बने रहो।

*

सदा अचंचल, स्थिर और शांत बने रहो और दिव्य शक्ति को अपनी चेतना में पारदर्शक पूर्ण सद्हृदयता में से कार्य करने दो।

*

भागवत चेतना तुम्हें रूपांतरित करने के लिये कार्य कर रही है; तुम्हें उसकी ओर अपने आपको खोलना होगा जिससे वह तुम्हारे अंदर निर्बाध कार्य कर सके।

*

दिव्य ज्योति की ओर उद्घाटन बल-प्रयोग द्वारा साधित नहीं किया जा सकता।

*

मैं केवल तुच्छ अज्ञान, अचेतनता और अहंकार की ही आहुति देने के लिये कह रही हूं—पर कितने अद्भुत अतुलनीय लाभ के लिये!

*

तुम्हारा मन अत्यधिक सक्रिय है। इस कारण तुम मेरी इच्छा के अनुसार सहज भाव में परिचालित नहीं हो सकते।

*

अपने शरीर में एक महत्तर शांति और स्थिरता स्थापित करो; इससे तुम्हें बीमारी के आक्रमणों का सामना करने के लिये शक्ति प्राप्त होगी।

*

सब कुछ निर्भर करता है श्रद्धा की तीव्रता तथा युक्त भाव की दृढ़ता पर।

*

धैर्य और अध्यवसाय होने पर सभी प्रार्थनाएं पूरी हो जाती हैं।

*

अपनी अभीप्सा में दृढ़ बने रहो और वह पूरी होकर रहेगी।

*

तुम्हें अपनी अभीप्सा को अटूट बनाये रखना चाहिये और अपने प्रयास में धैर्य के साथ लगे रहना चाहिये–फिर तुम्हारी सफलता निश्चित है।

*

स्थिर और धैर्यवान् रहो–सब कुछ ठीक हो जायगा।

*

भगवान् की कृपाशक्ति, संकल्पशक्ति और क्रिया पर पूर्ण श्रद्धा-विश्वास बनाये रखो–फिर सब कुछ ठीक हो जायगा।

*

प्रत्येक चीज अपने समय पर आयगी; विश्वासपूर्ण धैर्य बनाये रखो–सभी कुछ ठीक हो जायगा।

*

भय मत करो, तुम्हारी सच्चाई तुम्हारी रक्षिका है।

*

यह बात बराबर ही अधिक अच्छी है कि दूसरों के वक्तव्यों को, विशेषकर तथाकथित आध्यात्मिक विषयों के वक्तव्यों को न सुना जाय। प्रत्येक आदमी को अपने अपने पथ का अनुसरण करना चाहिये। दूसरों का उस पथ से कोई संबंध नहीं है।

*

सब कुछ इसपर निर्भर करता है कि तुम किस भाव से कर्म करते हो। अगर कर्म युक्त भाव से किया जाय तो वह निश्चय ही तुम्हें मेरे अधिक समीप ले आयगा।

*

सच्चे भाव से किया हुआ कर्म ध्यान ही है।

*

कर्म के विषय में बहुत अधिक परेशान मत होओ; तुम जितनी ही अधिक अचंचलता और शांति के साथ इसे करोगे उतना ही अधिक यह फलदायक होगा।

*

साधारण नियम के रूप में यह बराबर ही अधिक अच्छा है कि जो चीजें किसी के कार्य-क्षेत्र में न आती हों, उनमें वह हस्तक्षेप न करे।

*

कर्म में जो कठिनाइयां आती हैं वे परिस्थितियों से या बाहरी तुच्छ घटनाओं से नहीं आतीं, बल्कि आंतरिक भाव (विशेषकर प्राणगत भाव) की किसी चीज से आती हैं–जैसे अहंकार, महत्त्वाकांक्षा, कर्म के विषय में मानसिक धारणाओं की कठोरता इत्यादि इत्यादि। यह अनुचित ही होता है। कहीं उत्तम यह होगा कि असामंजस्य को दूर करने के लिये उसके कारण को दूसरे या दूसरों के भीतर खोजने की अपेक्षा स्वयं अपने अंदर खोजा जाय।

*

अगर तुम अपने श्रद्धा-विश्वास को अचल-अटल बनाये रखो और अपने हृदय को सर्वदा मेरी ओर खोले रखो तो सभी कठिनाइयां, चाहे वे कितनी ही बड़ी क्यों न हों, तुम्हारी सत्ता की महत्तर पूर्णता के लिये सहायक बन जायंगी।

*

तुमसे मेरा कहना है: संताप में रस मत लो, संताप तुम्हें बिलकुल छोड़ देगा। संताप उन्नति के लिये कभी भी अनिवार्य नहीं। स्थिर तथा प्रसन्नतापूर्ण समता द्वारा ही अधिकतम विकास साधित किया जा सकता है।

*

हर भूल को सदा ही उन्नति का साधन बना लेना चाहिये; एक बार आवश्यक परिवर्तन सिद्ध कर लेने से भूल और उसके कारण दूर हो जाते हैं और तब उनकी पुनरावृत्ति नहीं हो सकती।

*

यदि स्थिति अप्रिय हो तो भी चिंता करने से वह सुधर नहीं जाती। धीर विश्वास ही से शक्ति उपलब्ध होती है।

*

हां, हर हालत में, इस पृथ्वी पर जिस कार्य को हमें सिद्ध करना है उसकी तुलना में इन सब तुच्छ बाहरी चीजों का बहुत कम महत्त्व है।

*

इन छोटी छोटी भौतिक असुविधाओं का उन्नति को वेग देने के लिये भी प्रयोग किया जा सकता है। इन सब प्रतिरोधों का अधिष्ठान अवचेतन है। हमें सचेतन संकल्प के साथ वहां प्रवेश करना होगा और इस अर्ध-चेतन जड़-तत्त्व में भी दिव्य विधान को प्रस्थापित करना होगा।

*

साधक को भोजन अपनी शारीरिक क्षुधा की शांति के लिये करना चाहिये, अपने लोभ की मांगों के कारण नहीं।

*

भोजन की मात्रा को अनुचित रूप से कम करने या अपने आपको भूखों मारने से कुछ नहीं होता। आवश्यकता है आसक्ति, भोजन-लोलुपता और स्वाद-लिप्सा से मुक्त आंतरिक भाव की। मनुष्य को शरीर के पालन, इसके बल तथा स्वास्थ्य को रक्षा के लिये पर्याप्त भोजन करना चाहिये, परंतु बिना आसक्ति या इच्छा के।

*

शरीर की वर्तमान अवस्था में निद्रा अनिवार्य है। अगर हम धीरे-धीरे अपनी अवचेतना पर अधिकार स्थापित कर लें तो निद्रा को अधिकाधिक सचेतन बना सकते हैं।

*

मैं अनुभव से जानती हूं कि भोजन कम करने से निद्रा सचेतन नहीं बनती; शरीर में तो चंचलता आ जाती है, परंतु इससे चेतना नहीं बढ़ती। अच्छी, गाढ़ और निश्चल निद्रा में ही मनुष्य अपने व्यक्तित्व के अधिक गहरे भाग के संपर्क में आ पाता है।

*

संग्रह २

शांति और समता

एकमात्र अचंचल, सुदृढ़ और अटूट शांति के द्वारा ही सच्ची विजय प्राप्त की जा सकती है।

*

अचंचलता, स्थिर और केंद्रीभूत शक्ति, इतनी स्थिर कि कोई भी चीज उसे हिला न सके–बस यही है सर्वांगपूर्ण सिद्धि का अनिवार्य आधार।

*

एकमात्र शांति के अंदर ही ज्ञान और शक्ति कार्यकर होते हैं।

*

शांति और आंतर नीरवता में ही तुम भगवान् की सतत उपस्थिति से अधिकाधिक सचेतन हो सकते हो।

*

अचंचलता के अंदर ही तुम यह अनुभव करोगे कि दिव्य शक्ति, साहाय्य और संरक्षण सदा तुम्हारे साथ हैं।

*

भगवान् की विशाल शांति को अपने अंदर संपूर्ण रूप में प्रवेश करने दो और अपनी सारी गतिविधियों को उसे ही परिचालित करने दो।

*

आंतरिक विश्राम को बढ़ाओ; वह विश्राम ऐसा बन जाय जो बराबर ही, यहां तक कि घोर कर्म के बीच भी, बना रहे और इतना स्थायी-दृढ़ हो जाय कि कोई भी चीज उसे हिलाने में समर्थ न हो–तब तुम दिव्य अभिव्यक्ति के एक पूर्ण यंत्र बन जाओगे।

*

सदा स्थिर और शांत बने रहने के लिये खूब सावधान रहो और अपनी सत्ता के अंदर एक सर्वांगीण समता को अधिकाधिक पूर्ण रूप में स्थापित होने दो। अपने मन को अत्यधिक सक्रिय मत होने दो और न ही उसे ऐसे उपप्लव में रहने दो। चीजों के बाह्य रूपों को देखकर सहसा ही कोई निर्णय मत करो; सदा ही पूरा समय लगाओ, एकाग्र होओ और केवल स्थिरता के अंदर फैसला करो।

*

समस्त सत्ता में सत्य-चैतन्य को परिव्याप्त हो जाना होगा, समस्त गतिविधियों को उसे अधिकृत कर लेना होगा और चंचल स्थूल मन को उसे शांत-स्थिर कर देना होगा। ये ही अभिव्यक्ति के लिये आरंभिक शर्तें हैं।

*

ध्यान के द्वारा मनुष्य जो अचंचल मन प्राप्त करता है वह निश्चय ही अल्पस्थायी होता है, क्योंकि जैसे ही तुम ध्यान से उठते हो वैसे ही तुम मन की अचंचलता से भी बाहर निकल आते हो। प्राण में और शरीर में तथा मन में सच्ची स्थायी अचंचलता भगवान् के प्रति पूर्ण आत्मोत्सर्ग करने से ही आती है; कारण, जब तुम किसी चीज को भी, यहां

तक कि स्वयं अपने को भी, 'अपना' नहीं मानते, जब प्रत्येक चीज, तुम्हारा शरीर, इंद्रियानुभव, हृद्गत बोध और विचार तक भी भगवान् के हो जाते हैं, तब स्वयं भगवान् ही सब चीजों का संपूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं और तब तुम्हारे लिये चिंता करने की कोई चीज ही नहीं रह जाती।

★

जब हम अक्षुब्ध होते हैं केवल तभी हम सर्वदा उचित कार्य उचित समय पर और उचित ढंग से कर सकते हैं।

★

सचमुच ही शांति की बेहद आवश्यकता है–शांति के बिना मामूली बात भी तुरत बड़ा बतंगड़ बन जाती है।

★

शांति को अधिकाधिक स्थायी और सर्वांगीण भाव में अपने अंदर अभिव्यक्त होने दो।

★

सच्चाई और श्रद्धा

सच्चाई दिव्य द्वारों को खोलने की कुंजी है।

★

प्रत्येक व्यक्ति को अवसर दिया गया है और सबके लिये साहाय्य भी मौजूद है–पर प्रत्येक अपनी सच्चाई के अनुपात में ही लाभ प्राप्त करता है।

★

सच्ची पुकारें अवश्य ही पहुंचती हैं और उत्तर प्राप्त करती हैं।

★

सब कुछ निर्भर करता है व्यक्ति की वृत्ति पर और उसके उपक्रम के भाव की सच्चाई पर।

★

पूर्ण सच्चाई के सबसे बड़े शत्रु हैं अभिरुचियां (चाहे मन की हों या प्राण की या शरीर की) और पूर्वनिर्धारित भावनाएं। इन्हीं बाधाओं को जीतना होगा।

★

जो लोग सच्चे हैं उनकी मैं सहायता कर सकती हूं और उन्हें आसानी से भगवान् की ओर मोड़ सकती हूं। परंतु जहां सच्चाई नहीं है वहां मैं बहुत कम ही कुछ कर पाती हूं। तब, जैसा कि मैं पहले तुम्हें बता चुकी हूं, हमें धैर्य रखना होता है और स्थिति के सुधरने की प्रतीक्षा करनी होती है। परंतु अवश्य ही कोई कारण नहीं कि तुम क्षुब्ध हो जाओ, तुम्हारा क्षोभ स्थिति के सुधरने में किसी तरह सहायता तो करेगा ही नहीं। तुम अनुभव से जानते हो कि विक्षोभ और अंधकार से बाहर निकलने का एक ही रास्ता है; वह है खूब अचंचल और शांत बने रहना, समता में अचल बने रहना और तूफान को गुजर जाने देना। इन तुच्छ झगड़ों और कठिनाइयों से ऊपर उठो और पुनः मेरे प्रेम की ज्योति और शक्ति में, जो सदा तुम्हारे साथ हैं, जाग्रत् हो जाओ।

★

प्रत्येक मुहूर्त्त अपनी शक्तिभर उत्तम व्यवहार करना और फल को श्रीभगवान् के निर्णय पर छोड़ देना ही शांति, प्रसन्नता, शक्ति, उन्नति और अंतिम पूर्णता प्राप्त करने का सुनिश्चित पथ है।

*

ऐसी दृढ़ श्रद्धा होना अच्छा है—यह तुम्हारे पथ को अधिक आसान और छोटा बना देगी।

*

ठीक तभी जब कि अनिष्ठा की भावना चारों ओर फैल रही हो, हमें वास्तविक रूप में निष्ठापूर्ण तथा तूफान से अस्पृष्ट और अनुद्वेलित रहना चाहिये।

*

हमें भगवान् की विजय में पूर्ण विश्वास होना चाहिये। तब इस व्यापक विजय में उन सबकी व्यक्तिगत विजय भी शामिल हो जायगी जो निष्ठावान् और विश्वासपूर्ण बने रहेंगे।

*

धैर्य और नम्रता

नम्रता और सच्चाई सबसे उत्तम संरक्षण हैं। इनके बिना प्रत्येक डग खतरे से भरा होता है; इनके होने पर विजय सुनिश्चित है।

*

यथार्थ, निष्कपट नम्रता में हम सुरक्षित रहते हैं—यह नम्रता अहंकार के अनिवार्य विलय की ओर जानेवाला सुनिश्चित पथ है।

*

यदि सब परिस्थितियों और अवस्थाओं में मन अचंचल बना रहे तो धैर्य अधिक आसानी से बढ़ सकेगा।

*

कोई एक दिन में ही अपनी प्रकृति को नहीं जीत सकता। पर धैर्य और स्थायी संकल्प बने रहने पर विजय का आना सुनिश्चित है।

*

विजय की निश्चितता अनंत धैर्य प्रदान करती है और साथ ही अधिकतम बल भी।

*

शांत-स्थिर बने रहो। हम लोगों को केवल धैर्य के साथ कार्य करते जाना चाहिये और किसी चीज से विचलित नहीं होना चाहिय तथा अनिवार्य विजय में अटल विश्वास बनाये रखना चाहिये।

*

अग्नि को निरंतर एकसमान प्रज्वलित रखो और चुपचाप सुनिश्चित फल की प्रतीक्षा करो।

*

सच्ची अग्नि सदा गंभीर शांति के अंदर ही जलती है; यह सर्व-विजयिनी संकल्प-शक्ति की अग्नि होती है।

*

गंभीर साम्यावस्था में इसे अपने अंदर वर्द्धित होने दो।

*

प्रेम

जो प्रेम करता है केवल वही प्रेम को पहचान सकता है। जो सच्चे प्रेम में अपने आपको दे देने में असमर्थ होते हैं, वे कभी और कहीं भी प्रेम को पहचान नहीं पायंगे, और जितना ही प्रेम अधिक दिव्य होगा अर्थात् निःस्वार्थ होगा, उतना ही कम वे उसे पहचान पायंगे।

*

स्वयं अपने ऊपर केंद्रीभूत होने का अर्थ है ह्रास और मृत्यु--एकमात्र भगवान् पर केंद्रीभूत होने पर ही प्राप्त होती है जीवनी-शक्ति और वृद्धि और सिद्धि।

*

एकमात्र प्रेम ही भगवान् की क्रिया के रहस्य को समझ सकता है और उसे आयत्त कर सकता है। मन, विशेषकर भौतिक मन, ठीक ठीक देखने में असमर्थ होता है और फिर भी वह बराबर सब विषयों पर राय कायम करना चाहता है.....। पर सच पूछा जाय तो मन की सच्ची और सरल विनम्रता ही, जो कि चैत्य पुरुष को समस्त सत्ता पर राज्य करने देगी, मनुष्य को अज्ञान और अंधकार से बचा सकती है।

*

एकमात्र भागवत कृपा के लिये ही प्रार्थना करनी चाहिये—यदि न्याय बरता गया तो बहुत कम ही पार उतर सकेंगे।

*

एक ऐसी गभीर सत्य-चेतना है जिसमें सब लोग प्रेम और सामंजस्य के साथ मिल सकते हैं।

*

जैसे जैसे चेतना, समता और प्रेम बढ़ते जायंगे वैसे वैसे भगवान् का सामीप्य भी बराबर ही बढ़ता जायगा।

*

मेरी अनवरत मधुर उपस्थिति के इस बोध को सदा बनाये रखो और सब कुछ ठीक हो जायगा।

*

मनुष्य का केंद्र है चैत्य पुरुष जो कि अंतर्यामी भगवान् का निवास-स्थान है। एकीकरण का मतलब है सत्ता के सभी भागों (मन, प्राण और शरीर) का इस केंद्र के चारों ओर सुसंगठित और सामंजस्यपूर्ण हो जाना जिससे सत्ता की सभी क्रियाएं अंतर्यामी भगवान् की इच्छा की ठीक अभिव्यक्ति हो जायं।

*

ईर्ष्या का उद्गम है मन की संकीर्णता और हृदय की दुर्बलता। बड़े दुःख की बात है कि इतने लोग इससे आक्रांत होते रहते हैं।

*

प्राणगत संबंध बराबर ही खतरनाक होते हैं।

प्राण का भगवान् के प्रति पूर्ण, अखंड निवेदन ही एकमात्र समाधान है।

★

तुम और दूसरे

निश्चय ही हमें शांति और सामंजस्य की बराबर कामना करनी चाहिये और यथाशक्ति उसके लिये कार्य करना चाहिये—परंतु उसके लिये कार्य का सबसे उत्तम क्षेत्र अपने अंदर ही होता है।

★

दूसरे लोगों की प्रतिक्रियाओं के विषय में—चाहे वे कितनी ही दुःखदायी क्यों न हों—चिंता मत करो—प्राण-सत्ता सर्वत्र और प्रत्येक व्यक्ति में अपवित्रताओं से भरी हुई है और भौतिक सत्ता अचेतनता से। इन दो अपूर्णताओं को दूर करना ही होगा, चाहे कितना ही लंबा समय इसमें क्यों न लगे। हमें इसके लिये केवल धैर्यपूर्वक और साहस के साथ काम करते जाना होगा।

★

दूसरे जो कुछ करते हैं या सोचते हैं या कहते हैं उससे आघात पाना बराबर ही कमजोरी का चिह्न है और इस बात का सबूत है कि समूची सत्ता अभी तक एकांत भाव से भगवान् की ओर नहीं मुड़ी है, एकमात्र दिव्य प्रभाव के अधीन नहीं आ गई है। तब हम प्रेम, सहनशीलता, समझदारी, धैर्य आदि से बने दिव्य वातावरण को साथ रखने के बदले अपने अहंकार को दूसरों के अहंकार के उत्तर में बाहर प्रसारित करने लगते हैं, जिसमें कठोरता और आहत भावनाएं होती हैं और इससे विरोध और बढ़ जाता है। अहंकार यह कभी नहीं समझता कि भगवान् विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार की क्रियाएं करता है तथा अपने अहंकारपूर्ण दृष्टिकोण से सभी बातों का विचार करना भारी भूल है। इससे विरोध बढ़ जाना अनिवार्य है। हम लोग उत्तेजित और असहिष्णु होकर जो कुछ करते हैं वह कभी दिव्य नहीं हो सकता, क्योंकि भगवान् केवल दिव्य शांति और सामंजस्य के अंदर कार्य करता है।

★

चिंता मत करो, न अधीर ही होओ—सब प्रकार का विरोध दूर हो जायगा। पर इसके लिये एक सुदृढ़ प्रकाशपूर्ण चेतना का सच्चा आधार होना चाहिये जिसमें अहंकार की क्रिया के लिये कोई स्थान न हो।

★

जब लोग वास्तव में अपनी चेतना में परिवर्तन चाहते हों, तभी उनके कर्म भी परिवर्तित हो सकते हैं।

★

मैं जानती हूं कि लोग धांधलीबाज और नासमझ हैं। पर जब तक उनकी चेतना ही नहीं बदलती तब तक भला हम उनसे और क्या आशा कर सकते हैं?

★

क्या सभी मनुष्यों में ही मिथ्या सर्वदा सत्य के साथ मिला हुआ नहीं होता?

★

हां, हमें अपनी चेतना की स्थिति को उच्चतर सत्ता में बनाये रखना चाहिये और जो कुछ हम करें वहां से करना चाहिये; निम्नतर, अंधी और स्वार्थपूर्ण गतिविधियों और प्रतिक्रियाओं को कार्य बिगाड़ने नहीं देना चाहिये।

*

यदि कोई अपनी पसंदों से एकदम अलग होकर, किसी भी चीज को व्यक्तिगत प्रश्न बनाये बिना कार्य के हित को देखने में समर्थ हो सके तो फिर अधिकांश कठिनाइयां हल हो जायंगी।

*

यदि कार्य को लोग अपना कार्य कहना छोड़ सकते तो बहुत सारी कठिनाइयां दूर हो जातीं।

*

मैं चाहती हूं कि तुम्हारे मन में शांति आये और साथ ही स्थिर, धीर ज्ञान आये जो हमें जल्दबाजी में निर्णय कर डालने या फैसला दे देने से रोकता है।

*

जितना कोई मन अधिक अज्ञानी होता है उतना ही वह अधिक आसानी से प्रत्येक चीज के बारे में, जिसे कि वह नहीं जानता अथवा समझने में असमर्थ होता है, अपनी राय बना लेता है।

*

स्पष्ट रूप में समझने और देखने के लिये तथा समुचित रूप में कार्य करने के लिये एक बहुत ही धीर-स्थिर मस्तिष्क का होना अनिवार्य है।

*

हमें बराबर ही मन में अपने उस बड़े आदर्श और कार्य को बनाये रखना चाहिये जिसे हमें सिद्ध करना है, ताकि हम उन छोटी छोटी ब्योरे की तुच्छ बातों को बहुत अधिक महत्त्व न दें जिन्हें हमारा ध्यान आकर्षित नहीं करना चाहिये। इन तुच्छ बातों को आने दो और चले जाने दो, जैसे कि आकाश में छोटे-मोटे बादल आते रहते हैं। उनसे सुन्दर मौसम में जरा भी विकार नहीं आता।

*

हां, ये सब झगड़े बड़े दुःखदायी हैं—ये भीषण रूप से कार्य में बाधा डालते हैं और प्रत्येक चीज को ही अधिक कठिन बना देते हैं।

*

दूसरों की मूर्खता का तुम ख्याल मत करो, अपनी का ही ख्याल काफी है।

*

जब तुम दूसरों के साथ बातचीत करो तब अपने चारों ओर सजीव उपस्थिति और संरक्षण को बनाये रखने के लिये बराबर सावधान रहो और यथासंभव कम बोलो।

*

कठिनाइयां और सहायता

कठिनाइयां सदा ही किसी प्रतिरोध के कारण पैदा होती हैं—सत्ता का कोई भाग या कई भाग, उनपर जो शक्ति, चेतना और ज्योति डाली जाती है, उसे ग्रहण करना अस्वीकार करते हैं और भागवत प्रभाव के विरुद्ध विद्रोह करते हैं। विरला ही कोई इन कठिनाइयों

में से एक अथवा दूसरी का सामना किये बिना संपूर्ण रूप से भागवत इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण कर पाता है। परंतु अपनी अभीप्सा को अटल बनाये रखना और पूर्ण सच्चाई के साथ आत्मनिरीक्षण करते रहना सभी बाधाओं को पार करने का सुनिश्चित पथ है।

★

निश्चय ही ये सब कष्ट कहीं पर कोई प्रतिरोध होने से ही आते हैं, किसी ऐसी चीज के कारण जो रूपांतर के कार्य का विरोध करती है।

★

भगवान् की सहायता के बिना साधना करना किसी के लिये भी संभव नहीं हो सकता। पर सहायता बराबर विद्यमान रहती है।

★

भगवत्कृपा बराबर ही कार्य करने के लिये तैयार है, पर तुम्हें इसे कार्य करन का मौका देना चाहिये और इसके कार्य का विरोध नहीं करना चाहिये। एकमात्र आवश्यक शर्त्त है श्रद्धा। जब तुम अपने को आक्रांत अनुभव करो तब सहायता के लिये श्रीअरविंद को और मुझे पुकारो। अगर तुम्हारी पुकार सच्ची होगी (कहने का तात्पर्य यह कि अगर तुम सच्चे दिल से रोगमुक्त होना चाहोगे) तो तुम्हारी पुकार का उत्तर अवश्य आयगा और कृपा-शक्ति तुम्हें रोगमुक्त कर देगी।

★

यह व्यर्थ की बात है कि सहायता तो मांगी जाय परंतु विश्वास न रखा जाय। इसके विपरीत, भरोसा होने से प्रत्येक बात कितनी आसान हो जाती है।

★

निःसंदेह, मैं विश्वास करती हूं कि जब निश्चेतना जीत ली जायगी तब कोई शर्त आवश्यक न रहेगी। सब कुछ भागवत कृपाशक्ति के सहज निर्णय से निर्धारित हुआ करेगा।

★

सहायता के लिये अभीप्सा करना और पुकारना एकदम अनिवार्य है।

★

निश्चय ही पुकारने और खींचने में बड़ा अंतर है—सहायता के लिये तुम बराबर ही पुकार सकते हो और पुकारना ही चाहिये और फिर—उत्तर आयेगा ग्रहण करने और हजम करने की तुम्हारी क्षमता के अनुपात में। खींचना तो एक स्वार्थपूर्ण क्रिया है जो तुम्हारी क्षमता की अपेक्षा अत्यधिक शक्तियों को उतार सकती है और इस तरह वे हानिकारक हो सकती हैं।

★

उद्घाटन का अर्थ है ग्रहण करने की तथा उन्नति के लिये शक्ति और प्रभाव का उपयोग करने की इच्छा; दिव्य चेतना के संस्पर्श में बने रहने की सतत अभीप्सा; यह विश्वास कि शक्ति और चेतना बराबर ही तुम्हारे साथ, तुम्हारे चारों ओर, तुम्हारे भीतर ह, और बस तुम्हें इतना ही करना है कि तुम उन्हें ग्रहण करने में किसी चीज को भी बाधा नहीं बनने दो।

★

यह ठीक है कि भागवत संरक्षण बराबर ही हमारे चारों ओर विद्यमान है पर यह पूर्ण रूप से केवल तभी कार्य करता है जब हमारे सामने ऐसी विपत्तियां आ उपस्थित होती हैं जो कि अनिवार्य होती हैं; कहने का तात्पर्य, जब हम भगवान् के लिये काम कर रहे होते हैं और अगर एकाएक हमारे मार्ग में विपत्तियां उठ खड़ी होती हैं तो फिर संरक्षण अधिक सफल होता है। पर कोई ऐसा कार्य आरंभ करना जो किसी तरह अनिवार्य तो है ही नहीं बल्कि निश्चित रूप से उपयोगी भी न हो और फिर अत्यंत आपत्-संकुल हो, ऐसी हालत में यह आशा रखना कि भागवत संरक्षण सभी संभाव्य परिणामों से हमारी रक्षा करेगा– यह भगवान् को चुनौती देने के समान है जो भगवान् कभी स्वीकार नहीं करेंगे।

★

जब हम पूर्ण रूप से अचंचल और भयरहित बने रहते हैं तब कुछ भी हानिप्रद घटित नहीं हो सकता।

★

भय सदा ही बड़ा बुरा सलाहकार होता है।

★

एक बार जब मिथ्यापन जीत लिया जायगा तब सभी कठिनाइयां दूर हो जायंगी।

★

वास्तव में अत्यधिक अज्ञान ही वह चीज है जो हमारी सत्ता से अंधकार और विनाश की शक्तियों के सुझावों का प्रत्युत्तर दिलाती है। अगर भगवान् की अनंत करुणा के प्रति हमारे अंदर कृतज्ञता का सच्चा भाव हो तो हम ऐसे खतरों से अवश्य बच जायंगे।

★

विजय निश्चित होगी इस निश्चयता के साथ हम सभी भ्रांत सुझावों और विरोधी आक्रमणों का मुकाबला धीरतापूर्वक कर सकते हैं।

★

हमें विरोधी शक्तियों को दुष्टता करने का कभी मौका नहीं देना चाहिये–वे तनिक सी अचेतनता से भी अपना मतलब पूरा कर लेती हैं।

★

सच्चा आत्मदान ही समस्त कठिनाइयों और विपत्तियों से हमारी रक्षा करता है।

*

हां, मेरे बच्चे, यह बिलकुल ठीक है कि भगवान् ही एकमात्र आश्रय हैं–उनके साथ रहने में ही पूर्ण सुरक्षा है।

★

भविष्य

जो योग का अभ्यास करते हैं उनके लिये जन्मकुंडली का कोई महत्त्व नहीं, क्योंकि योग के द्वारा जो प्रभाव कार्य करता है वह नक्षत्रों के प्रभाव से बहुत अधिक शक्तिशाली होता है।

★

अभिव्यक्ति का कार्य सभी कठिनाइयों को पार कर जायगा, क्योंकि अभिव्यक्ति का अर्थ ही है समस्त कठिनाइयों को पार कर जाना।

★

संग्रह ३

प्रगति के लिये तुम्हारी अभीप्सा प्रसन्नतापूर्ण होनी चाहिये। तभी तुम प्रगति का आनंद प्राप्त कर सकोगे।

*

तुम्हारा कर्म दैवी प्रसन्नता से परिपूर्ण होना चाहिये। उससे तुम्हारा मन शुद्ध हो जायगा और उस शुद्धि की नींव पर ही आध्यात्मिक चरितार्थता संगठित हो सकेगी।

*

यदि तुम्हारे अंतर में अग्नि स्थिरता से जला करती है तो वह तुममें भगवान् के प्रति निष्ठा तथा भक्तियुक्त प्रेममय समर्पण को दृढ़ कर देगी।

रूपांतर का यह अत्यंत सुनिश्चित पथ है।

*

पूर्णतया सच्चे बनो और तब कोई ऐसी विजय नहीं जो तुम्हें प्राप्त न हो सके।

*

अभीप्सा द्वारा अन्तःस्फुरणात्मक मन तक पहुंच जाओ; तब तुम जान जाओगे कि रूपांतर किसे कहते हैं।

*

पृथ्वी पर सच्ची पवित्रता का अर्थ यह है कि जैसे भगवान् विचार करते हैं वैसे विचारना, जैसे वे इच्छा करते हैं वैसे इच्छा करना, जैसे वे अनुभव करते हैं वैसे अनुभव करना।

*

जब तक तुम्हारे अंदर संसार को बदलने की शक्ति नहीं है, तब तक यह कहना व्यर्थ है कि संसार बुरा है। यदि तुम अपने अंदर से वे चीजें निकाल डालो जो तुम्हें संसार में बुरी लगती हैं, तुम देखोगे कि संसार फिर बुरा नहीं रहेगा।

*

जीवन के दुःखों को वैसे मत मानो जैसे वे प्रतीत होते हैं—वास्तव में वे महत्तर उपलब्धियों के साधन हैं।

*

यत्न करना ही पर्याप्त नहीं है, सफलता प्राप्त करनी होगी।

*

हे शांत-अचल चैतन्य! शाश्वतता के स्फिंक्स[1] (Sphinx) की भांति तू जगत् की सीमाओं पर चौकसी कर रहा है। फिर भी कुछ लोगों को तू अपना रहस्य बता देता है। वे तब तेरी परम संकल्पशक्ति बनने के योग्य हो जाते हैं जो बिना किसी पसंद के चुनती है और बिना किसी कामना के कार्य करती है।

*

यदि तुम संसार को बदलना चाहते हो तो पहले अपने आपको बदलो। तुम्हारा आन्तरिक रूपांतर इस बात का प्रमाण बन जाय कि सत्य-चेतना जड़ जगत् को अपने अधिकार में

---

[1] प्राचीन मिश्र का रहस्यमय देवता।

कर सकती है और भगवान् की एकता भूतल पर व्यक्त हो सकती है।

संगठन, वे चाहे कैसे भी विशाल और जटिल क्यों न हों, तब तक कोई स्थायी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते जब तक एक नई शक्ति, एक अधिक दिव्य एवं सर्वसमर्थ शक्ति अपने आपको एक पूर्णताप्राप्त मानव यन्त्र के द्वारा व्यक्त नहीं करती।

*

जो पूर्णता के पथ पर प्रगति करना चाहता है उसे मार्ग की कठिनाइयों की शिकायत कभी नहीं करनी चाहिये; क्योंकि प्रत्येक कठिनाई नई प्रगति के लिये एक अवसर होती है। शिकायत दुर्बलता और असद्हृदयता का चिह्न है।

*

जिन भौतिक वस्तुओं का हम उपयोग करते हैं उनकी संभाल न रखना निश्चेतनता और अज्ञान का सूचक है।

अगर तुम किसी भौतिक वस्तु की, वह चाहे कोई भी क्यों न हो, संभाल नहीं रखते तो तुम्हें उसका उपयोग करने का कोई अधिकार नहीं।

तुम्हें उसकी संभाल रखनी चाहिये, इसलिये नहीं कि तुम उससे आसक्त हो, वरन् इसलिये कि वह भागवत चेतना की किसी चीज को प्रकट करती है।

*

अंधकार के काल बार बार आते हैं और सबमें आते हैं। साधारणतया यह पर्याप्त होता है कि तुम शांत-स्थिर रहो और चिंता मत करो, यह समझो कि ये आध्यात्मिक रातें हैं जो ज्योतिपूर्ण दिनों के साथ बारी बारी से आया करती हैं। पर यदि कृतज्ञता भी आच्छन्न हो जाय तो अंधकार के काल बहुत देर तक बने रहते हैं। अतएव शांति बनाये रखने के लिये तुम्हें अपने हृदय में भगवान् के प्रति, उनकी समस्त सहायता के लिये, कृतज्ञता अवश्य रखनी चाहिये। तथापि एक और तीव्र एवं प्रभावशाली उपाय भी है। वह यह कि अपने हृदय के अंदर पवित्रीकरण की ज्वाला, प्रगति की अभीप्सा, और आत्मनिवेदन की तीव्रता एवं उत्कंठा को सदा प्रज्वलित रखो। जो लोग सच्चे होते हैं उन सबके हृदय में यह ज्वाला जलती रहती है; अकृतज्ञता को अपनी राख से इसे ढक देने का मौका तुम्हें कभी नहीं देना चाहिये।

*

यदि किसी की सत्ता के अंदर आंतरिक संघर्ष की संभावना उपस्थित है तो इसका अर्थ यह है कि उसके अंदर किसी प्रकार की असद्हृदयता अभी तक विद्यमान है।

*

शक्ति मुख्यतया मन एवं प्राण में और, प्राण के द्वारा, शरीर में कार्य कर रही थी... यह अपने कार्य में और भी नीचे तक पहुंच गई है और अब केवल जड़तत्त्व में ही नहीं अपितु अवचेतन में और यहां तक कि निश्चेतन में भी क्रियाशील है। जब तक तुम इस अवरोही गति का अनुसरण नहीं करते और शक्ति को अपने शरीर में और चेतना के इन भौतिक स्तरों में कार्य नहीं करने देते, तब तक तुम अपने को मार्ग पर निःसहाय अनुभव करोगे और जरा भी आगे नहीं बढ़ सकोगे। शक्ति की इस क्रिया को अवकाश देने के लिये जिस चीज की अनिवार्य आवश्यकता है वह सभी चेष्टाओं, अभ्यासों, रुचियों,

पसंदगियों और आवश्यकताओं के संवेदन आदि का ब्योरेवार समर्पण है।

*

किसी भी समस्या का अपने आपमें कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है, बल्कि वह शेष सबके एक व्यापार के रूप में ही अस्तित्व रखती है। उसके समाधान को, अगर उसे यथार्थ होना है तो, उनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं करनी होगी।

*

कभी मत भूलो कि तुम अकेले नहीं हो। भगवान् तुम्हारे साथ हैं और तुम्हें सहायता दे रहे और मार्ग दिखा रहे हैं। वे एक ऐसे साथी हैं जो कभी साथ नहीं छोड़ते, ऐसे मित्र हैं जिनका प्रेम सांत्वना और बल देता है। श्रद्धा रखो और वे तुम्हारे लिये सभी कुछ करेंगे।

*

तुम्हें जो भी प्राप्त हो उसे तुम यदि युक्त भाव में ग्रहण करो तो वह तुम्हारे लिये परम हितकर बन जायगा।

*

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक ऐसी घड़ी आती है जब उसे 'पथ' और 'गड़बड़झाले' में से किसी एक का चुनाव करना होता है। तुम एक पांव यहां और एक वहां नहीं रख सकते। यदि तुम ऐसी चेष्टा करोगे तो तुम नष्ट-भ्रष्ट हो जाओगे।

जो हृदय चुनाव नहीं करता है उसकी मृत्यु निश्चित है।

*

दो चीजें तुम्हें कभी नहीं भूलनी चाहियें : श्रीअरविंद की करुणा और 'माताजी' का प्रेम। इन्हीं दो चीजों के सहारे तुम स्थिरतापूर्वक और धैर्य के साथ तब तक लड़ते चले जाओगे जब तक शत्रु निश्चित रूप से पराभूत नहीं हो जाते और विजय सदा के लिये प्राप्त नहीं हो जाती।

तुम्हें चाहियें, बाहर साहस, भीतर शांति; और भगवान् की कृपा में शांत और अटल विश्वास।

*

मन को प्रसन्न और हृदय को शांतिपूर्ण रखो। अपनी समता को किसी भी चीज से क्षुब्ध मत होने दो और मेरे साथ लक्ष्य की ओर स्थिरतापूर्वक बढ़ने के लिये प्रतिदिन आवश्यक प्रगति करो।

*

बाहर से कोई भी चीज तुम्हारे पास आकर तुम्हें उद्वेलित न करने पाये। लोग क्या सोचते, करते या कहते हैं इसका कुछ महत्त्व नहीं। महत्त्व है केवल भगवान् के साथ तुम्हारे संबंध का।

*

तुम जो अपने को लोगों के क्षणिक मनोभावों और विचारों से प्रभावित नहीं होने देते यह बिलकुल ठीक ही करते हो। भगवान् की उपस्थिति, प्रेम और रक्षा को सतत रूप से अनुभव करते हुए तुम्हें इन सब भावों और विचारों से बहुत ऊंचे उठ जाना चाहिये।

*

कठिनाइयों की आशंका मत करो–यह उन्हें पार करने में सहायक नहीं होती बल्कि उन्हें लाने में ही सहायक होती है।

*

धैर्य के द्वारा प्रत्येक कठिनाई पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

*

यह सदा ही अधिक अच्छा होगा कि तुम मन को शांत रखो और आवश्यक जानकारी प्राप्त करने से पहले जल्दबाजी में कोई निर्णय मत करो।

*

तुम्हें यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि जब तुम नाटकीय ढंग से कुछ करने की अपेक्षा शांतिपूर्वक प्रसन्न रहते हो तब तुम कहीं अधिक सहायक होते हो।

*

कार्य का क्षेत्र नहीं बदल जाता है। कार्य तो तुम वही करते रहोगे जो तुम अब कर रहे हो। परिवर्तन कार्य की भावना में, विशेषकर दूसरे कार्यकर्ताओं के साथ संबंध में, होना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति कार्य को अपने ही ढंग से देखता है, और मानता है कि यही एकमात्र सच्चा ढंग है, कि यही वह ढंग है जो भागवत इच्छा को अभिव्यक्त करता है। परंतु इन ढंगों में से कोई भी पूर्ण रूप से ठीक नहीं है। इन विभक्त धारणाओं से ऊपर उठकर ही कोई भगवान् की इच्छा को अधिक अच्छी तरह समझने में समर्थ हो सकता है। इसका मतलब है इच्छाओं और भावों के विरोध और संघर्ष के स्थान पर एक दूसरे को समझना और मिलजुलकर कार्य करना।

*

विरक्त होना या कामना में ग्रस्त होना सच्चा भाव नहीं है। सच्चा भाव है–जो कुछ मैं दूं उसे पूर्ण सरलता के साथ ग्रहण करना, उससे पूर्णतः संतुष्ट रहना, न अधिक की मांग करना और न दिये गये से इन्कार करना। यह दूसरों के सामने रखने के लिये एक उचित दृष्टांत है, एक ऐसा दृष्टांत है जो दूसरों को साधकों के रूप में अपने कर्तव्यों को अधिक अच्छी तरह समझने में सहायता पहुंचा सकता है।

मेरे शिशु बने रहो, सरल, शांत, प्रसन्न, और फिर सब ठीक हो जायगा।

*

हां, जो अपने अहं में रहते हैं वे निरंतर एक भद्दे नाटक में रत रहते हैं। यदि लोग कुछ कम स्वार्थी हों तो स्थिति इतनी बुरी नहीं रहेगी।

इस बीच हमें इन सब विरोधी परिस्थितियों का धीरता, सहिष्णुता और समता के साथ सामना करना होगा।

*

जिस बुराई को भगवान् ने भुला दिया है वह प्रत्येक व्यक्ति को भुला देनी चाहिये।

*

एक बार जब अभीप्सा चेतना के अंदर सुप्रतिष्ठित हो जाती है तो वह कर्म पर या कर्म के अभाव पर आश्रित नहीं रहती।

*

सर्वांगीण सहिष्णुता, पूर्ण मानसिक नमनीयता और सर्वांगीण प्रगति की व्यवस्था के द्वारा प्राणिक शत्रुओं पर विजय लाभ करो।

*

प्राणिक स्थिरता, शुद्ध जीवन-शक्ति, और कोषाणुओं में अतिमानसिक प्रभाव के द्वारा शरीर-चेतना के लिये अतिमानसिक रूपांतर में से गुजरना संभव होगा। यह रूपांतर काम-केंद्र में आनंद को सुस्थिर कर देगा।

*

भगवान् के प्रेम के प्रति पूर्णतया आज्ञापालक बनो। यह प्रेम तुम्हारी सत्ता को रूपांतरित करता जायगा जब तक कि वह अतिमानसिक रूप में नमनीय ही नहीं बन जाती।

*

सबसे पहले प्राण की शुद्धि के लिये अभीप्सा करो और प्राण में एक पूर्ण स्थिरता दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित करो। तभी तुम अपनी प्राणिक सत्ता को भगवान् के प्रति सचमुच में अर्पित कर सकोगे।

*

समस्त बाह्य कोलाहल को शांत करो, भगवान् की सहायता के लिये अभीप्सा करो; जब यह आवे तो अपने सभी अंगों को इसकी ओर खोल दो और इसकी क्रिया के प्रति समर्पण कर दो। तब यह सफलतापूर्वक तुम्हारा रूपांतर साधित कर देगी।

प्राणिक शत्रुओं को, जो भगवान् के प्रेम के प्रति तुम्हारे प्राण के उद्‌घाटन के मार्ग में बाधा डालते हैं, जीतने की भावना को सुदृढ़ बनाये रखो।

भगवान् का प्रेम उस प्राणिक सामंजस्य का निश्चित निर्माता है जो अत्यंत सफल भविष्य की ओर ले जायगा।

*

समस्त असत्य का समर्पण कर दो; फिर तुम्हारा स्थूल मन रूपांतरित हो जायगा और मानसिक विजय प्राप्त हो जायगी।

*

भगवान् सब जगह हैं और सब वस्तुओं में हैं, भगवान् ही सब कुछ हैं; ठीक है, पर अपने सार एवं परम वास्तविकता में। परंतु वर्धनशील भौतिक अभिव्यक्ति के इस जगत् में मनुष्य को भगवान् के साथ, जैसे वे हैं उनके साथ नहीं बल्कि जैसे वे होंगे उनके साथ, तादात्म्य लाभ करना है।

संपूर्ण मातृ-साहित्य

	फ्रेंच	अंग्रेजी	हिन्दी
1.	Prières et Méditations	Prayers and Meditations of the Mother	अप्राप्य
2.	Paroles d'autrefois	Words of Long Ago	बहुत पहले के प्र वचन (इस विशेषांक में)
3.	Belles Histoires	Tales of All Time	सुन्दर कहानियां
4.	Entretiens Suivis de Quelques Paroles	Words of the Mother	मातृवाणी
5.	Quelques Paroles	Words of the Mother (2nd Series)	मातृवाणी (दूसरा भाग) (इस विशेषांक में)
6.	अप्राप्य	Words of the Mother (3rd Series)	नए प्रवचन (इस विशेषांक में)
7.	अप्राप्य	Words of the Mother (4th Series)	स्फुट वचन (इस विशेषांक में)
8.	Éducation	On Education	शिक्षा
9.	Bulletin d'Education Physique	Bulletin of Physical Education (Quarterly)	शारीरिक शिक्षण-पत्रिका (त्रैमासिक)
10.	Vers l'Avenir	Towards the Future	भविष्य की ओर (नाटक)
11.	Prières Annuelles	Annual Prayers	वार्षिक प्रार्थनाएं
12.	La Découverte Suprême	Supreme Discovery	सर्वोत्तम आविष्कार (इस विशेषांक में भी)

संस्कृत अनुवाद

मातृमुक्तावलिः

सूक्ति-सुधा

संपादक, डा० इन्द्रसेन (श्रीअरविन्द आश्रम, पांडिचेरी) ; प्रबन्ध-संपादक श्री केशवदेव पोद्दार (३२ रामपार्ट रो, फोर्ट, बम्बई) तथा श्री श्यामसुन्दर झुनझुनवाला (४/१ क्लाईड रो, कलकत्ता–२२) ; प्रकाशक, श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर (एस० एन० संडरसन एण्ड क०, कनाट सरकस, नई देहली)

Le Directeur: Haradhan Bakshi, Imprimerie de Sri Aurobindo Ashram, Pondichéry

192-53-3-1500

श्रीअरविन्द के पत्र (भाग २)

साधना, दर्शन, समाजशास्त्र, कला, साहित्य आदि विषयक पत्रों का यह संकलन अत्यंत सरल भाषा में श्रीअरविन्द के जीवन-दर्शन के लिये बहुमुखी पथ-प्रदर्शन प्रस्तुत करता है। मूल्य ३)

श्रीअरविन्द की प्रेरणा

श्रीअरविन्द के व्यक्तित्व तथा कार्य की पंचविध प्रेरणा को यह पुस्तक अत्यंत रोचक शैली से प्रस्तुत करती है। इसमें उनकी जीवनी, योग, समाजशास्त्र, दर्शन तथा साहित्य पर विभिन्न विद्वानों के पांच विस्तारपूर्ण निबंध हैं। बहुमुखी परिचय के लिये अत्यंत उपयोगी पुस्तक है। अदिति के साइज में १६३ पृष्ठ, मूल्य ३)।

अदिति की फाइलें

सन् ४४, ४५, ४६, ४८, ४९, ५०, ५१, ५२ की पूरी चारों चारों अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। दाम अजिल्द ६), सजिल्द ८)। सन् ४७ के केवल ३रा और ४था अंक। प्रति अंक १॥)। सन् ५१ और ५२ के विशेषांक के दाम २॥)

भारत माता (मासिक) की फाइलें

सन् ५१ और ५२ की अर्चना विशेषांक सहित प्रति फाइल ६)।

हिन्दी में श्रीअरविन्द-साहित्य

★श्रीअरविन्दकृत पुस्तकें★

श्रीअरविन्द के पत्र (भाग २)	३)
कर्मयोगी	२॥)
चार साधन	॥)
विचार और झांकियां	॥)
दयानन्द	॥)
दुर्गास्तोत्र	।)
गीताप्रबन्ध	६॥)
माता	॥)
श्रीमां	२॥)
योगप्रदीप	१)
योग के आधार	२॥)
वेद-रहस्य (सजिल्द) खंड १, २	९), ४)
वेद-रहस्य (अजिल्द) ,, ,,	८), ३)
उत्तरपाड़ा अभिभाषण	।=)
इस जगत् की पहेली	१)
जगन्नाथ का रथ	॥)
श्रीअरविन्द के पत्र (पत्नी के नाम)	॥)
धर्म और जातीयता	१॥)
गीता की भूमिका	१॥)

★माताजीकृत पुस्तकें★

वार्षिक प्रार्थनाएं	।=)
मातृवाणी भाग १, २	२), ॥)
सर्वोत्तम आविष्कार	।=)
सुन्दर कहानियां	१॥)
शिक्षा	१॥)
भविष्य की ओर	॥)

★अन्य पुस्तकें★

पूर्णयोग	१॥)
योगदीक्षा	१)
योगविचार	२॥)
अदिति माता	१)
श्रीअरविंद और उनका योग	॥=)
श्रीअरविंद और उनका आश्रम १, २	१)
प्रकाश की ओर	॥)
श्रीअरविन्द की प्रेरणा	३)

★★मिलने के पते★★

★१. श्रीअरविन्दाश्रम, पांडिचेरी ★२. श्रीअरविन्द बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजंसी, ३२ रैम्पर्ट रो, फोर्ट, बम्बई ★ ३. श्रीअरविन्द निकेतन, कनाट सरकस, नई देहली (स्थान—एस. एन. सण्डर्सन एण्ड को.)

